तिलाञ्जलि दे देता है। जिन गायों को नहीं देना चाहिए, उन्हें दान के रूप में दिये जाने से पिता की अनिष्ट की निवृत्ति के लिए पिता से कहता है "आप मुझे किसे दे रहे हैं?" पिता उसके प्रश्नों की उपेक्षा कर देता है किन्तु नचिकेता अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता। पिता के क्रोधानल में जलना श्रेयस्कर समझता है किन्तु पिता का विनाश उसे इष्ट नहीं है। परिणाम स्वरूप पिता ने उसे मृत्यु को समर्पित कर दिया। बालक नचिकेता ने धैर्यपूर्वक तपस्या की। तीन दिन तक उपवास किया। यमराज तीन दिन के पश्चात् लौटे तब उसकी तपस्या से प्रभावित होकर उसने नचिकेता को तीन वरदान माँगने को कहा।

पितृभक्त नचिकेता ने सर्वप्रथम पिता की प्रसन्नता के लिए यमराज से वर की याचना की। क्योंकि वह जानता था कि पिता की प्रसन्नता ही सम्पूर्ण सुखों की आधारशिला है। पिता दिव हैं। विना इस देव के प्रसन्न हुए किसी की अनुकम्पा प्राप्त नहीं हो सकती है। इस वर की याचना में लौकिक-सुख की प्राप्ति का रहस्य है।

लौकिक सुख की प्राप्ति के पश्चात् नचिकेता ने यमराज से द्वितीय वरदान में उस अग्निविद्या की याचना की, जिसके द्वारा स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होती है। अग्नि ही संसार का कारण है। इस अग्निविद्या के चयन की समग्र-विधि को यमराज ने नचिकेता से बतायी। इस अग्नि-चयन की विधि को नचिकेता ने अच्छी प्रकार जानकर यमराज को वता दिया। यम ने नचिकेता को एक और वरदान दिया। यमराज ने कहा कि यह अग्निविद्या तुम्हारे नाम (नाचिकेत अग्नि) से जानी जायेगी। ईस अग्निविद्या के द्वारा स्वर्ग के सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। यद्यपि स्वर्ग-सुख नष्ट होने वाला है किन्तु उसमें चिरस्थायित्व है। प्रथम वर की अपेक्षा इस वरदान में उत्कृष्टता है।

नचिकेता के तृतीय वर में आत्मा के अस्तित्व की विवेचना है। अनादि काल से आत्मा के अस्तित्व पर विवाद चलता आया है। नचिकेता ने इसी

प्रश्न को यमराज के समक्ष रखा।[१] यमराज ने नचिकेता को दुर्लभ भोगों के विषम जाल में फँसाने[२] का प्रयास किया परन्तु नचिकेता ने सम्पूर्ण भोगों पर लात मार[3] दी। उसकी दृष्टि में आत्मज्ञान ही वरणीय विषय है।[४] यमराज ने योग्य शिष्य नचिकेता के लिए आत्म और परमात्म तत्त्व की विवेचना का द्वार खोल दिया।

उसने बताया कि आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म और गहन है। अवर व्यक्ति इसका उपदेश नहीं दे सकता। ब्रह्मभूत आचार्य यदि उपदेश देता है तो अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती[५] है। भोग के दलदल में फँसा हुआ मनुष्य आत्म-तत्त्व को जानना नहीं चाहता। उचित उपदेष्टा के अभाव में व्यक्ति सुनकर भी इसके रहस्य को समझ नहीं पाता[६] है। वस्तुतः इसका वक्ता और श्रोता आश्चर्यमय[७] हैं। यह आत्मतत्त्व तर्क के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

---

१. "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।"

—क० उ० १।१।२०

२. शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व········स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।

—क० उ० १।१।२३

× × ×

—द्र० क० उ० १।१।२४, २५।

३. "श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तके तत्········तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।"

—क० उ० १।१।२६

४. "नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते"—क० उ० १।१।२९

५. द्र० क० उ० १।२।८।

६. "श्रृण्वन्तोऽपि वहवो यं न विद्युः"

७. "आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" क० उ० १।३।७

इस आत्मतत्त्व को सम्पूर्ण वेद ॐ पद के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। इसी ओङ्कार की उपासना से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसी ओङ्कार का आलम्बन ही ब्रह्मलोक की महिमा को प्रदान करता[१] है।

यह आत्मतत्त्व कर्मों के अनुसार शरीर को धारण करता है किन्तु इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। शरीर का जन्म और विनाश होता है। आत्मा का न जन्म होता है, न इसकी मृत्यु होती है। यह आत्मतत्त्व अज, नित्य, शाश्वत और अत्यन्त पुराण है। शरीर के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता है।[२] यह अणु से भी अणु है और महान् से भी महान् है।[३] प्रत्येक प्राणी के हृदय में इसका निवास है।[४] यह आत्मतत्त्व शब्द, रूप, रस आदि विषयों की भाँति इन्द्रियों का विषय नहीं है। इस अनादि अनन्त और ध्रुव आत्मा कर साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् साधक मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।

इस आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिए कठिन साधना की आवश्यकता पड़ती है। सांसारिक और पारलौकिक भोगों का परित्याग करना पड़ता[५] है। सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में कर मन को परमात्म तत्त्व में लगाना पड़ाना है। जब तक इन्द्रियाँ निर्मल नहीं होती और मन वश में नहीं हो जाता तब तक

---

१. "एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" १।२।१७

२. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
क० उ० १।२।१८।

३. "अणोरणीयान्महतो महीयान्" क० उ० १।२।२०

४. "आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्" क० उ० १।२।२०

५. "न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्" क० उ० १।२।१०

× × ×

अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत" क० उ० १।२।२८

आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता है।[१] जो विवेकी, समाहित मन वाला और पवित्र आचरण करता है, वह उस परमात्मतत्त्व को प्राप्तकर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। इस आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिये छुरा की धारा पर चलना पड़ता है। वाणी को मन में समाहित करना पड़ता है, मन को बुद्धि में, बुद्धि को महत् तत्त्व में और महत् तत्त्व को परमात्म तत्त्व में समाहित करना पड़ता है।[२] परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार होने पर जीव हर्ष-शोक से विमुक्त होकर मुक्ति को प्राप्त करता है।[3]

जिनका मन समाहित नहीं है, वे अपने कर्म के अनुसार अनेक योनियों में भ्रमण करते रहते हैं।[४] इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा की सत्ता रहती है। नचिकेता का यही प्रश्न था कि आत्मा की सत्ता, मरने के बाद रहती है या नहीं ? यमराज ने इसे और स्पष्ट करते हुए बताया कि "यह आत्मा है" इस

---

१. "धातुप्रसादान्महिमानमानमात्मनः"

× × ×

"मन आदीनि करणानि धातव" शा० भा० १।३।२०

२. द्र० क० उ० १।२।१३

३. "निचाप्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" क० उ० १।२।१५

× × ×

"अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" क० उ० १।२।१२

"महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" क० उ० २।१।४

४. योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ क० उ० २।२।७

× × ×

"ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते" क० उ० २।३।४

कठोपनिषद्

४६५
वेदान्त

# भूमिका

उपनिषद् शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से निष्पन्न है। 'उपनिषद्' में 'क्विप्' प्रत्यय लगा है। 'उपनिषद्' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ होगा "समीप जाकर निश्चयपूर्वक बैठना।" उपनिषद् गुरु अथवा ब्रह्म के समीप ले जाने वाला ग्रन्थ है। संसार के दुःखों से सन्त्रस्त व्यक्ति उपनिषद् के वट-वृक्ष की छाया में बैठकर ही अपरमित सुख और शान्ति को प्राप्त करता है। गुरु ही वट-वृक्ष है जिसके ज्ञान की छाया अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। उपनिषद् ही सर्वव्यापी ब्रह्म के समीप पहुँचाने में सक्षम है। यह तो जीव को ब्रह्मत्व प्रदान करता है। इसीलिए उपनिषद् को ब्रह्मविद्या कहते हैं।

आचार्य शङ्कर की दृष्टि में उपनिषद् ब्रह्मविद्या है।[१] इन्होंने 'उपनिषद्' शब्द के (उप + सद्) सद् धातु का अर्थ—

१. विशरण (नाश) २. गति और

३. अवसादन (शिथिल करना) किया है।[२] संसार की विकराल ज्वाला से संतप्त व्यक्ति जब मोक्ष की कामना से सांसारिक और पारलौकिक सुखों से विरक्त होकर गुरूपदिष्ट ब्रह्मविद्या का निष्ठापूर्वक अनुशीलन करता है तब सम्पूर्ण अनर्थों की जननी अविद्या का विशरण (नाश) हो जाता है और जीव मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।[3] विद्या (ज्ञान) के द्वारा ही अविद्या का नाश होता है। इसलिए उपनिषद् विद्या[४] या ज्ञान-स्वरूप है। यही विद्या मुमुक्षुओं को ब्रह्म के पास पहुँचाती है। इसलिए 'गति' अर्थ के योग में उपनिषद्

१. ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषद्। कठोप०
२. सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्या·········।
३. निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते। कठो० १।३।१३
४. विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदुच्यते। आचार्य शङ्कर

ब्रह्मविद्या के रूप में प्रसिद्ध है इस उपनिषद् को अग्निविद्या[1] भी कहते हैं। सद् धातु का अर्थ शिथिल करना भी है। अग्नि सम्पूर्ण मलों को जला कर राख कर देती है। नाचिकेत अग्नि से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषद् विद्या स्वर्ग-प्राप्ति का साधन है। अतः विभिन्न लोकों में होने वाले गर्भवास, जन्म, जरा आदि उपद्रवों का अवसादन (शिथिल) करने के कारण उपनिषद् को अग्निविद्या भी कहते हैं। इस अग्निविद्या की उपासना से स्वर्गलोक में चिरस्थायी अमरत्व[२] की प्राप्ति होती है।

इन तीनों अर्थों की यदि मीमांसा की जाय तो यही प्रतीत होता है कि उपनिषद् वह विद्या है जिसके द्वारा सांसारिक और पारलौकिक दुःखों से मुक्ति पाकर परमानन्द या परब्रह्म की प्राप्ति होती है। मुख्य वृत्ति से तो उपनिषद् शब्द का अर्थ अविद्या-विनाशिनी विद्या ही है किन्तु "आयुर्वै घृतम्" की भाँति गौणी वृत्ति से विद्याविशिष्ट ग्रन्थ[3] को भी उपनिषद् कहा जाता है।

## कठोपनिषद् और उसका प्रतिपाद्य विषय

कठोपनिषद् उपनिषद् साहित्य का अमूल्य रत्न है। यह कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से सम्बन्धित है। कोलब्रुक ने इसे सामवेद से सम्बन्ध माना है किन्तु वेबर ने इस मत का खण्डन कर दिया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में नचिकेता की कथा पायी जाती है। इसी कथा का पूर्ण विकास कठोपनिषद् में उपलब्ध है। कठ शाखा से सम्बन्धित होने के कारण उसका नाम 'कठोपनिषद्' पड़ा है।

## नचिकेता को दिये गये तीन वरदान

विवेकशील कुमार नचिकेता पिता के द्वारा दिये गये अदेय दान से दुःखी होता है। उसके हृदय में पिता के प्रति असीम श्रद्धा है। वह अपने सुख की

---

१. शैथिल्यापादेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याप्युपनिषदित्युच्ते।

२. स्वर्गलोका अमृत्वं भजन्ते। कठो० १।१३

३. तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति।

कोठ० शां० भा०

प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिए ।[१] इसी को तत्त्वभाव से जानना चाहिए हृदय से जब सम्पूर्ण कामनाओं की समाप्ति हो जाती है । और सम्पूर्ण ग्रन्थियों का उच्छेदन हो जाता है तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है ।[२]

## जीवात्मा और परमात्मा

दर्शन-शास्त्र में जीव और ब्रह्म के स्वरूप में विवाद है । सभी वेदान्त दार्शनिक ब्रह्म या परमातमा तथा आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं किन्तु उनके सम्ब्रन्धों तथा भिन्नता और अभिन्नता में विवाद करते हैं । कठोपनिषद् में ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध की विवेचना की गयी है । दोनों तत्त्व हृदय रूपी गुहा में निवास करते हैं, किन्तु जीवात्मा अपने कर्म-फलोंको भोगता है और ब्रह्म कार्य-कारण से असम्पृक्त रहने के कारण किसी प्रकार के भोग से इसका सम्बन्ध नहीं रहता है । जीवात्मा छाया है और ब्रह्म धूप के समान है ।[3] ब्रह्म सर्व प्रकाशक हैं और जीव उसी के प्रकाश से प्रकाशित होता है । परमात्मा की सत्ता पर ही जीव की सत्ता आधारित हैं । इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा या ब्रह्म साध्य या प्राप्य हैं । जीव उसे प्राप्त करने के लिए साधना करता है । जीवात्मा और परमात्मा दोनों एक तत्त्व नहीं हैं । चाहे औपाधिक भेद हो या आंशिक किन्तु भेद है ।

परब्रह्म अनित्यों का नित्य, और चेतनों का चेतन है । यही एक तत्त्व सब

---

१. "अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥" क० उ० २।३।१३

२. "यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ।" क० उ० २।३।१५

३. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥
क० उ० १।३।१

की कामनाओं को पूर्ण करता है।[१] यह ब्रह्म सभी तत्त्वों की सीमा है। इसका अतिशयन करने वाला कोई तत्त्व नहीं है।[२] ब्रह्म को प्रकाशित करने वाला कोई पदार्थ नहीं है। उसी के प्रकाश से सारा संसार प्रकाशित होता रहता है। उसी के प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है।[३] इसी ब्रह्म के भय से अग्नि तपता रहता है, सूर्य प्रकाशित होता है इन्द्र जल बरसाता है, और यमराज अपने कार्यों का सम्पादन करता है।[४] इस संसार का कारण ब्रह्म है जो ज्योतिः स्वरूप है। यह अमृत है। सम्पूर्ण लोक इसी ब्रह्म में आश्रित है। यह असीम है। इसलिए कोई इसका अतिक्रमण नहीं कर सकता है।[५] इसी ब्रह्म से सारे संसार का विकास होता है। यह सर्व व्यापक ब्रह्म 'ॐ' स्वरूप है। अर्थात् ॐ इसका वाचक है और ब्रह्म उसका वाच्य। वाच्य और वाचक में अभेद होता है। इसलिए ओङ्कार ही ब्रह्म है। यही अक्षर ही ब्रह्म[६] है। यही अक्षर ही पर है।

जिस प्रकार एक ही प्रकाश स्वरूप अग्नि भुवन में प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपवान् वस्तु के रूप में प्रकाशित होती रहती है, जैसे एक ही वायु लोक में प्रविष्ट होकर विभिन्न रूप में प्रवाहित हो रहा है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म भुवन में व्याप्त होकर विभिन्न रूपों में प्रकाशित होता है। यही ब्रह्म सम्पूर्ण

---

१ "नित्योऽनित्याना चेतनश्चेतनाना—
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।" क० उ० २।२।१३

२. "पुरुषान्न पर किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः" क० उ० २।३।११।

३. "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" क० उ० २।२।१५

४. भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ क० उ० २।३।३।

५. तदेव शुक्रं तद ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन॥ क० उ० २।३।१।

६. "एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म" क० उ० १।२।१६।

विश्व का नियंत्रण करता रहता है । यह ब्रह्म असंग है अर्थात् सुख और दुःखादि से निर्लिप्त हैं । इसी ब्रह्म के साक्षात्कार से विवेको व्यक्ति नित्य सुख को प्राप्त कर जन्म-मरण के चक्र से विमुक्त हो जाता है ।

आत्मा के साक्षात्कार हो जाने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है क्योंकि ब्रह्म सत्र में अनुस्यूत है अथवा ब्रह्म और आत्मा में औपाधिक भेद है । दोनों में पारमार्थिक अभेद है । इसलिए आत्मा के साक्षात्कार से ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है ।

## श्रेय और प्रेय

मानव ब्रह्म या आत्मा के अस्तित्व को जानता हुआ भी अनित्य भोगों के पीछे प्रमत्त की भाँति पड़ा रहता है । सांसारिक भोगों में इतनी आकर्षण शक्ति है कि व्यक्ति इससे मुक्ति प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाता । यमराज ने नचिकेता के समक्ष भोगमय प्रेय मार्ग को प्रस्तुत किया था किन्तु नचिकेता ने श्रेय-मार्ग का ही अनुसरण किया ।

श्रेय-मार्ग को विद्या और प्रेय-मार्ग को अविद्या के नाम से पुकारते हैं । मनुष्य के समक्ष विद्या और अविद्या दोनों प्रकार की रमणियाँ उपस्थित होती हैं । अविद्या अनेक प्रकार के मनमोहक आभूषणों से लदी हुई अठखेलियों करती हुई मनुष्य के समक्ष उपस्थित होती हैं । इसके चारों ओर दिव्य सेविकाएँ, रथ, महल और सांसारिक भोगों के नन्दन उपवन की छटा क्रीड़ा करती रहती है । इसके एक हाथ में दुर्लभ लौकिक भोगों से भरी हुई थाली रहती है तथा दूसरे हाथ में स्वर्ग के सुखों का अक्षय पात्र सुशोभित रहता है । विद्या रूपी रमणी तपस्विनी-भेष में उपस्थित होती है । उसका शरीर मृगचर्म से आच्छादित रहता है । उसके केश-पाश में पक्षियों के घोसले दिखायी पड़ते हैं । उसके हाथ में कपाल और वैराग्य के ग्रन्थ सुशोभित होते रहते हैं । अविवेकी व्यक्ति अविद्या रूपी रमणी का सेवक बनकर अक्षय सुख की कामना करता है किन्तु इसका परिणाम भयावह होता है । स्वर्णभूषणादि से लदी हुई रमणी नरक के गर्त में झोंक देती है । अविद्या रूपी रमणी का सेवक अपने को धीर और पण्डित मानता

है किन्तु उसी प्रकार इसका पतन होता है जैसे अन्धा के द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलने वाले दूसरे अन्धे का विनाश होता है। अविद्या रूपी रमणी के क्रोड में सोने वाला व्यक्ति उसके मादक रूप-पाश में फँसा हुआ अपना सर्वस्व नाश कर देता है, उसे परलोक के साधन काले नाग की भाँति प्रतीत होते हैं। उसकी दृष्टि में इसी लोक की सत्ता है, परलोक नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार का व्यक्ति बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है। प्रेय-मार्ग का पथिक निरन्तर योग और क्षेम की कामना में रत रहता है किन्तु उसे कभी भी शान्ति की प्राप्ति नहीं होती है।

श्रेय-मार्ग या विद्या रूपी रमणी का उपासक सांसारिक विषय-वासनाओं की तिलाञ्जलि दे देता है। उसकी दृष्टि में सांसारिक भोग क्षणभङ्गुर हैं और इन्द्रियों की शक्ति को नाश करने वाले हैं। वस्तुतः विद्या का उपासक कल्याण को प्राप्त करता है और प्रेय का उपासक सम्पूर्ण पुरुषार्थ से पतित हो जाता है। श्रेय-मार्ग अत्यन्त कंटकाकीर्ण है। इस मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति अपने इन्द्रियों को वश में रखता है। मन की चञ्चलता को एकाग्रता में परिणत कर देता है और सर्वदा पवित्र आचरण करता है। वैराग्यमय रास्ते पर चलकर परमात्मा पद को प्राप्त कर पुनः संसार के ज्वालामुखी में नहीं जलता है।

धीर और विवेकी व्यक्ति ही श्रेय-मार्ग का वरण करता है। इसके द्वारा वह परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है। नचिकेता श्रेय-मार्ग का पथिक है। इसलिए कल्याण की कामना करने वाले व्यक्ति को नचिकेता की भाँति क्षणभङ्गुर भौतिक सुखों का परित्याग कर आत्म-दर्शन का प्रयास करना चाहिए।

### रथ-रूपक की विवेचना :

यमराज ने, श्रेय और प्रेय-मार्ग के पथिक को प्राप्त होने वाले फलों को रथ-रूपक की कल्पना विषय की गम्भीरता को हस्तामलक की भाँति सरल बना देती है।

यह शरीर ही रथ है जिसमें अनेक प्रकार के अङ्गों का समावेश है। विना रथी के रथ का कोई महत्त्व नहीं है। आत्मा ही शरीर रूपी रथ का स्वामी है।

इस रथी को परम लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त करना है। इस रथ का सारथी (संचालक, ड्राइवर) बुद्धि है, इन्द्रियाँ ही अश्व हैं। इस इन्द्रिय रूपी अश्वों को वश में करने के लिए मन ही लगाम है। घोड़े मार्ग पर चलना नहीं चाहते क्योंकि उन्हें मार्ग से च्युत करने के लिए विषय-भोग के हरे-हरे घास अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं। इस रथ का प्रमुख तत्त्व बुद्धि है क्योंकि वही संचालक है। यदि बुद्धि रूपी सारथी सांसारिक विषय-भोग की मदिरा में डूब कर रथ का सञ्चालन करे तो मन रूपी लगाम उसके अधिकार में नहीं रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि इन्द्रिय रूपी अश्व, विषय-भोग के आकर्षण में मार्ग-विमुख होकर पतन के गर्त की ओर रथ और रथी दोनों को ले जायेंगे।

जिस रथ का सारथी विवकी होता है। मोह-निशा से जगकर विषय-भोग से दूर रहता है .वह, रथ और रथी को परम गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देता है।

रथ-रूपक की कल्पना का रहस्य तत्त्वों की सूक्ष्मता के प्रतिपादन में है। इन्द्रियों की अपेक्षा विषयों की श्रेष्ठता है क्योंकि इन्द्रियाँ विषयाधीन रहती हैं। विषयों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। मन से बुद्धि सूक्ष्म है। इसी बुद्धि को सारथी के रूप में चित्रित किया गया है इस बुद्धि से भी सूक्ष्म महत् तत्त्व है उससे सूक्ष्म अव्यक्त है और अव्यक्त से भी श्रेष्ठ परम पुरुष या ब्रह्म सूक्ष्म है। यही पुरुष या परब्रह्म तत्त्वों की सीमा है। इस सीमा को प्राप्त करने के लिए रथी को रथ की आवश्यकता होती है। जो इन तत्त्वों की सूक्ष्मता को अच्छी प्रकार समझता है, वही परम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है।

रथ-रूपक की कल्पना का दूसरा रहस्प श्रेय और प्रेय-मार्ग के परिणाम की विवेचना करना है। जो श्रेय मार्ग का वरण करता है उस रथी के रथ का सारथी विवेकी होता है। इसलिए उसके अश्व उसके वंश में रहते हैं। अतः वह परम लक्ष्य मोक्ष को सरलता से प्राप्त कर लेता है किन्तु जो प्रेय-मार्ग के मदिरालय का भक्त है उसके रथ का सारथी प्रमादी होता है। इसलिए उस रथ के अश्व विषय के लोभ में रथ और रथी दोनों का विनाश कर देते हैं।

रथ-रूपक की कल्पना का तीसरा रहस्य आत्मा के भोक्तृत्व का प्रतिपादन करना है। वस्तुतः आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है। सुख और दुःख की प्रतीति बुद्धि को होती है किन्तु अविवेक की अवस्था में जब आत्मा शरीर, इन्द्रियादि से युक्त रहता है, अर्थात् शरीर आदि में जब अहं बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तब आत्मा में भोक्तृत्व का आरोप हो जाता है। जैसे रथ पर बैठा हुआ रथी रथ के हलचल से प्रभावित होता है, उसी प्रकार शरीर आदि से सम्बन्ध होने के कारण असङ्ग आत्मा में कर्मों के अनुसार भोक्तृत्व का आरोप होता है। इस रथ-रूपक के रहस्य को जानने वाला व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार करके मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कठोपनिषद् भारतीय संस्कृति की अमरनिधि है जिसमें पितृ-भक्ति, सत्य के लिए संघर्ष, भोगों की नश्वरता, श्रेय की सार्थकता आत्मसंयम तथा आत्मज्ञान के अनुपम उपदेश भरे हुए हैं। इसके अनुकूल आचरण करने वाला परम शान्ति को प्राप्त करता है।

●

शाङ्करभाष्यसहिता

# कठोपनिषत्

## शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

**शाङ्करभाष्यम्**—ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च। अथ काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते।

सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। केन पुनरर्थयोगेनोपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिसनाद्विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—"निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।" (क० उ० १।३।१५) इति। पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषत्। तथा च वक्ष्यति—"ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः" (क० उ० २।३।१८) इति। लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन

प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याप्युपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—"स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" (क० उ० १।१।१३) इत्यादि। ननु चोपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलषन्ति। उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च। नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसम्भवाद्विद्यायां च सम्भवात्। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः, आयुर्वै घृतमित्यादिवत्। तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति। एवमुपनिषन्निर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः। विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम्। प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा। सम्बन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः। अतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत् प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धा एता वल्ल्यो भवन्तीति। अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे।

**अन्वय**—ॐ नौ सह अवतु। नौ सह भुनक्तु। (आवाम्) सह वीर्यम् करवावहै। नौ अधीतम् तेजस्वि अस्तु (आवाम्) मा विद्विषावहै।

**शब्दार्थ**—नौ = हम दोनों की। सह = साथ-साथ। अवतु = रक्षा करें। भुनक्तु = पालन करें। वीर्यम् = (विद्याकृत) शक्ति। करवावहै = प्राप्त करें। अधीतम् = पढ़ी हुई विद्या। तेजस्वि = तेजोमयी। मा विद्विषावहै = परस्पर द्वेष न करें।

**अनुवाद**—(हे ईश्वर! आप) हम दोनों (गुरु और शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों एक साथ (विद्याकृत) शक्ति प्राप्त करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्विनी हो। हम दोनों (कभी भी) द्वेष न करें।

तीन दोषों—(आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक) की शान्ति हो।

**व्याख्या**—हे परमेश्वर! हम दोनों—गुरु-शिष्य की रक्षा करें अर्थात् विद्यास्वरूप-प्रकाशन के द्वारा हम लोगों की रक्षा करें। आप विद्यास्वरूप हैं। हम

लोगों को निरन्तर विद्या का प्रकाश प्रदान करते हुए रक्षा करें। तथा उस विद्या के समग्र फलों को प्रदान कर हम दोनों का पालन करें। हम दोनों विद्याकृत सामर्थ्य को प्राप्त करें अर्थात् हमें विद्याध्ययन के लिए अपरिमित शक्ति की प्राप्ति हो तथा हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजोमयी हो। कहीं किसी से परास्त न हों अथवा अधीत विद्या जगत् की कल्याण करने वाली बने। हम दोनों कभी किसी विषय पर द्वेष न करें अर्थात् गुरु और शिष्य का सम्बन्ध जीवन-पर्यन्त स्नेह-सूत्र में बँधा रहे।

तीनों तापों की निवृत्ति के लिए तीन बार शान्ति-पाठ किया गया है।

---

# प्रथमोऽध्यायः

## प्रथमा वल्ली

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

**शा० भा०**—तत्राख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । उशन्कामयमानः । ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ । वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा । तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः । स तस्मिन् क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान् । तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किल आस बभूव ॥१॥

**अन्वय**—ह वै उशन्[1] वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ । तस्य नचिकेता नाम पुत्र आस ह ।

**शब्दार्थ**—ह वै = दोनों निपात अतीत कालीन घटना का स्मरण दिलाने वाले हैं । उशन् = यज्ञ-फल की कामना करने वाले । वाजश्रवसः = वाजश्रवा के पुत्र अथवा वाज = अन्न (के दान से जिसका) श्रव = यश हो, ऐसे वाजश्रवा का पुत्र । सर्ववेदसं = सारा धन ।

**अनुवाद**—(ॐ अर्थात् परमात्मा के नाम का स्मरण कर उपनिषद् को प्रारम्भ कर ऋषि कहते हैं कि) यज्ञ-फल की कामना करते हुए वाजश्रवा के पुत्र (उद्दालक) ने (विश्वजित नामक यज्ञ किया और उन्होंने उस यज्ञ में) सर्वस्व धन (ब्राह्मणों को) दे दिया ! प्रसिद्ध है कि उस यजमान (उद्दालक) का नचिकेता नाम का पुत्र था ।

---

१. वश् (कान्तौ) + शतृ ।

२०७६८



**व्याख्या**—ग्रन्थ के आरम्भ में मंगल के लिए इष्टदेव की वन्दना की जाती है। इसीलिए "ॐ" इस परमात्मा के नामोच्चारण के पश्चात् उपनिषद् को प्रारम्भ किया गया है।

गौतमवंशीय वाजश्रवा के पुत्र अथवा प्रचुर अन्न-दान के कारण यश को प्राप्त करने वाले उद्दालक ऋषि ने स्वर्ग-फल की कामना करते हुए विश्वजित नामक यज्ञ किया। इस यज्ञ में सभी वस्तुओं का दान कर दिया जाता है, इसलिए उन्होंने अपने सम्पूर्ण धन को ब्राह्मणों को दान दे दिया। उन्होंने सुंदर और दूध देने वाली गायों का दान नहीं किया। उनके स्नेहिल दृष्टि में ये गायें बालक नचिकेता की थीं। इसलिए वृद्ध गायों को अपनी सम्पत्ति मानकर ऋत्विजों को दान के रूप में दे दिया।[१] ऋषि उद्दालक का नरक से रक्षा करने वाला पुत्र[२] नचिकेता था।

**तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश।**
**सोऽमन्यत ॥२॥**

**शा० भा०**—तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तजननशक्ति बालमेव श्रद्धास्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ता आविवेश प्रविष्टवती। कस्मिन् काल इत्याह—ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेता अमन्यत ॥२॥

**अन्वय**—तं कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा आविवेश हः। सः अमन्यत।

**शब्दार्थ**—कुमारं = प्रथम वयस (पाँच वर्षीय)। दक्षिणासु नीयमा-

---

१. अतिबाले स्वपुत्रे स्नेहवशात् शोभनाः गाः पुत्रधनत्वेन कल्पयित्वा वृद्धा गाः स्वधनत्वेन मत्वा वृद्धगोलक्षणं स्वधनं क्रत्वङ्गदक्षिणारूपं ददौ। (मणिप्रभा व्याख्या पृ० २७।)

२. पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः""। मनु०।

नासु = (ऋत्विजों के लिए) दक्षिणा के रूप में देने के लिए (गायों को) लायी जाने पर । श्रद्धा = आस्तिक्य बुद्धि । आविवेश = प्रवेश किया ।

**अनुवाद**—(जिस समय ऋत्विजों को दान देने के लिए) दक्षिणाएँ (अर्थात् दक्षिणा रूप में गायें) लायी जा रही थीं, (उस समय) पञ्चवर्षीय बालक होने पर भी उस नचिकेता (के हृदय) में (पिता की अनिष्ट निवृत्ति के लिए) श्रद्धा ने प्रवेश किया । उसने विचार किया ।

**व्याख्या**—प्राचीन काल में गोधन ही सबसे प्रधान धन था । इसी धन का दान किया जाता था । उद्दालक ऋषि के घर में गायों की प्रचुरता थी । इसलिए उन्होंने इसी गो-धन को देने के लिए योजना बनायी । यज्ञ में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता चार प्रधान ऋत्विज होते हैं । इन्हें सबसे अधिक गायें दी जाती हैं । प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी और प्रस्तोता चार गौण ऋत्विज होते हैं । इन्हें मुख्य ऋत्विजों की आधी गायें दी जाती हैं । अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र और प्रतिहर्ता इन चार गौण ऋत्विजों को प्रधान ऋत्विजों की तिहाई और ग्रावस्तुत, नेता, होता और सुब्रह्मण्य नामक गौण ऋत्विजों को मुख्य ऋत्विजों की चौथाई गायें दी जाती हैं । इन सभी ऋत्विजों को देने के लिए गायें लायी जा रही थीं ।[1] नचिकेता अभी कुमार[2] था । वस्तुतः बालकों में कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं होता है किन्तु नचिकेता धीमान् बालक था । उसके हृदय में श्रद्धा (यथार्थ बुद्धि) उत्पन्न हुई । वह जानता था कि पिताजी जिस वस्तु को दान दे रहे हैं उससे अनिष्ट की प्राप्ति हो सकती है । इसलिए पिता की अनिष्ट-निवृत्ति के लिए उसके हृदय में श्रद्धा ने प्रवेश किया और दक्षिणा रूप में दी जाने वाली दयनीय गायों और अपने पिता की दान-बुद्धि के विषय में विचार करने लगा ॥२॥

---

१. द्र० मणिप्रभा व्याख्या पृ० २७ ।

२. कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि ।
कैशोरमापञ्चदशाद् यौवनं तु ततः परम् ॥

**पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।**
**अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥३॥**

**शा० भा०**—कथमित्युच्यते-दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते । पीतमुदकं याभिस्ताः पीतोदकाः । जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः । दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः । निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः । यास्ता एवम्भूता गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्धया ददत्प्रयच्छन् अनन्दा अनानन्दा असुखा नामेत्येतद्ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति ॥३॥

**अन्वय**—(याः) पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ताः (गाः) ददत् (यजमानः) ये अनन्दाः नाम लोकाः तान् सः गच्छति ॥३॥

**शब्दार्थ**—(याः) पीतोदका[1] = जो अन्तिम बार जल पी चुकी हैं (अब जल पीने की शक्ति जिनमें नहीं हैं) । जग्धतृणा[2] = जिन्होंने पहले ही घास खा लिया है (अव घास-भक्षण में असमर्थ है) दुग्धदोहा[3] = जिनका दूध दुह लिया गया है । (अब दूध देने में असमर्थ हैं) । निरिन्द्रियाः = जिनकी इन्द्रियाँ नष्ट हो चुकी हैं । अर्थात् देखनें चलने आदि क्रिया में असमर्थ तथा गर्भ धारण में जो अक्षम हैं, अनन्दा = सभी प्रकार के सुखों से शून्य । नाम = प्रसिद्ध है ।

**अनुवाद**—(जिन्होंने अन्तिम बार) जल पी लिया है, (अन्तिम बार) घास खा लिया है, (जिनका) दूध दुह लिया गया है, (जिनकी) इन्द्रियाँ नष्ट हो चुकी हैं (अर्थात् जो प्रजनन में अक्षम है तथा जिनमें न जल पीने की शक्ति है, न घास खाने की और जो न देख सकती है, न चल सकती है), उन (दान के अयोग्य) गायों का (ऋत्विजों को) दान करता हुआ (यजमान) सब प्रकार के सुखों से रहित जो लोक हैं, उनको प्राप्त करता है ।

**व्याख्या**—नचिकेता ने विचार किया पिताजी जिन गायों का दान कर रहे हैं वे तो मृत्यु के दिन गिन रही हैं । अदेय वस्तुओं का दान नहीं करना चाहिए ।

---

१. पा + कर्मणि क्त । २. जग्ध = अद् + कर्मणि क्त । ३. दुह + क्त, दुह् + घञ् = दोहः

जो व्यक्ति इस प्रकार का निन्दनीय दान करता है वह अनन्द = सम्पूर्ण सुखों से शून्य लोक को प्राप्त कर कष्ट भोगता है। पिताजी स्वर्ग-सुख की कामना से यज्ञ कर रहे हैं किन्तु वे उसके विपरीत आत्मघाती को प्राप्त होने वाले दुःखमय[1] लोक की प्राप्ति की तैय्यारी कर रहे हैं। अतः (नरक से रक्षा करने वाला) पुत्र होने के नाते मुझे उनकी रक्षा करने का उपाय सोचना चाहिए ॥३॥

**स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।**
**द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥**

**शा० भा०**—तदेवं क्रत्वसम्पत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रतुसम्पत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरम् उपगम्य स होवाच पितरं हे तत तात कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि प्रयच्छसीत्येतत्। एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति। नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन् पिता तं ह पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥ ४ ॥

**अन्वय**—स ह पितरम् उवाच तत कस्मै मां दास्यसि इति। (सः) द्वितीयं तृतीयं (तम् उवाच) (क्रुद्धः पिता) तम् उवाच ह—मृत्यवे त्वा ददामि इति।

**अनुवाद**—(पिता के अनिष्ट का आलोचन कर) वह (नचिकेता) पिता से बोला—"हे तत! (तात!) मुझे किस (ऋत्विज) को (दक्षिणा रूप में) देंगे?" (पिता के उत्तर न देने पर) उसने (इस वाक्य—मुझे किसे देंगे?—को) दुबारा (और) तिबारा कहा। (नचिकेता के अभिप्राय को न समझ कर क्रुद्ध पिता ने) उससे कहा—"मैं तुम्हें मृत्यु को (दक्षिणा-रूप में) देता हूँ।

**व्याख्या**—नचिकेता ने विचार किया कि नरक से रक्षा करना ही पुत्र का धर्म होता है। पिताजी को अनिष्ट से बचाना चाहिए। मेरे मोह में पड़कर उन्होंने सुन्दर गौओं को मेरे लिए रख लिया है और ये जीर्ण गायों का दान कर

---

१. अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ बृ०उ०४।४।११

कठोपनिषत्



रहे हैं। यदि मुझे भी किसी ऋत्विज को दान में दे दें तो इनका मोह भंग हो जायेगा और अच्छी गौओं का दान करेंगे। इसलिए उसने पिता से कहा कि मुझे किस ऋत्विज को दे रहे हैं। मैं भी आपकी सम्पत्ति हूँ। अतः यज्ञ की सफलता के लिए मुझे भी किसी को दान दे दीजिए। नचिकेता के पिता ने बालक के वचन की उपेक्षा की। उस बालक ने दुबारा भी यही प्रस्ताव रखा। पुनः पिता ने उसके प्रश्न की उपेक्षा की। नचिकेता हारने वाला नहीं था। कर्त्तव्य-मार्ग पर दृढ़ उसने तीसरी बार पुनः वही प्रश्न रखा। उद्दालक नचिकेता के इस व्यवहार (जो बालकों के योग्य नहीं है) को देखकर क्रुद्ध हो गए और उन्होंने नचिकेता से कहा—"मैं तुम्हें मृत्यु (यमराज) को दे रहा हूँ।"

**संबन्ध**—पिता के इस वाक्य को सुनकर नचिकेता अपने मन में विचार करने लगा—

**बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।**
**किं स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥**

**शा० भा०**—स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयाञ्चकार-कथमित्युच्यते-बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः। मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि। नाधमया कदाचिदपि। तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान् पिता। स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं यया प्रदत्तेन करिष्यति यत् कर्तव्यमद्य? नूनं प्रयोजनम् अनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान् पिता। तथापि तत् पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥ ५ ॥

**अन्वय**—बहूनां प्रथमः एमि, बहूनां मध्यमः एमि। यमस्य (तत्) किंस्वित् कर्तव्यं यत् (पिता) मया अद्य करिष्यति ॥५॥

**शब्दार्थ**—एमि = चलता हूँ (आचरण करता हूँ।) किंस्वित् कर्तव्यम्—कौन सा कार्य करना है।

**अनुवाद**—मैं बहुत से (पुत्रों या शिष्यों में) प्रथम (मुख्य) श्रेणी के आचरण

पर चलता हूँ। बहुत से (पुत्रों या शिष्यों में) मध्यम श्रेणी के आचरण पर चलता हूँ (कभी भी अधम श्रेणी का आचरण नहीं करता हूँ; फिर भी) यम का क्या कार्य है ? जिसे (पिताजी) मेरे द्वारा (अर्थात् मुझे दान देकर पूर्ण) करेगें ।।५।।

**व्याख्या**—पुत्र एवं शिष्यों की तीन श्रेणियाँ होती हैं। प्रथम श्रेणी के शिष्य या पुत्र अपने गुरु या पिता की आज्ञा के विना ही उनके मनोऽनुकूल आचरण करते हैं। मध्यम श्रेणी की शिष्य या पुत्र गुरु या पिता के आज्ञानुसार चलते हैं। अधम शिष्य और पुत्र तो गुरुओं के मनोरथ और आदेश को जानकर उसके प्रतिकूल आचरण करते हैं। नचिकेता सोच रहा है कि मैं तो सर्वदा प्रथम और मध्यम श्रेणी का आचरण करता हूँ अर्थात् अधिकांशतः पिता के मनोऽनुकूल आचरण करता हूँ, उन्हें कभी आज्ञा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। कभी-कभी उनकी आज्ञाओं के अनुकूल भी आचरण करता हूँ। इसलिए मैं तो प्रथम और द्वितीय श्रेणी का आचरण करने वाला पुत्र हूँ। मैं आज तक कभी भी अधम-पथ का पथिक नहीं बना हूँ। अतः पिता जी मुझे क्यों अप्रसन्न होकर यमराज को समर्पित कर रहे हैं। यमराज का कौन ऐसा कार्य है जिसे पिताजी मुझे देकर पूरा करना चाहते हैं। वस्तुतः यमराज का कोई कार्य नहीं है। पिता जी केवल सब कुछ नष्ट कर देने वाले क्रोध[1] के वशीभूत होकर मुझे यमराज को दान के रूप में दे रहे हैं। मुझ जैसे गुणवान् पुत्र का त्याग करना उचित नहीं है।

**संबन्ध**—क्रोध का ज्वार उतर जाने पर उद्दालक ऋषि पश्चात्ताप करने लगे "मैं क्रोध के वशीभूत होकर गुणवान् पुत्र को यमराज को दे रहा हूँ। अतः मुझे अपने आदेश को वापस ले लेना चाहिए या पुत्र को रोकना चाहिए। नचिकेता अपने पिता के कष्ट को समझ गया। इसलिए उनके शोकानल को शान्त करने के लिए तथा पिता के वचन को सत्य सिद्ध करने के उद्देश्य से उसने अपने पिता से इस प्रकार आश्वासन पूर्वक कहा—

---

१. सञ्चितस्यापि महता वत्स क्लेशेन मानवैः।
यशसस्तपसश्चैव क्रोधो नाशकरः परः ।। वि० पु० १।१।१८

**अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।**
**सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥**

**शा० भा०**—अनुपश्यालोचय निभालय । अनुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वे अतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव । तान् दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि । वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्यालोचय तथा न च तेषु मृषाकरणं वृत्तं वर्तमानं वास्ति । तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषाकरणम् । न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति । यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते । मृत्वा च सस्यमिव आजायत आविर्भवति । पुनरेवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन । पालय आत्मनः सत्यम् । प्रेषय मां यमाय इत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

**अन्वयः**—(हे तात !) अनुपश्य यथा पूर्वे (वृत्ताः) तथा प्रतिपश्य (यथा) अपरे (वृत्ताः) मर्त्यः सस्यम् इव पच्यते, पुनः सस्यम् इव आजायते ॥६॥

**शब्दार्थ**—पूर्वे = आप के पूर्वज पिता पितामहादि । अनुपश्य = विचार कीजिए । अपरे = वर्तमान काल में दूसरे श्रेष्ठ शिवि दधीचि आदि । प्रतिपश्य = आलोचना कीजिए । मर्त्य[1] = मरणधर्मा मनुष्य । सस्यम् = अन्न ।

**अनुवाद**—(हे तात) आपके पिता-पितामहादि पूर्वजों ने जैसा (आचरण किया है) उस पर विवेक पूर्वक विचार कीजिए । तथा जिस प्रकार (वर्तमान काल के शिवि आदि) दूसरे श्रेष्ठ लोग (आचरण करते) हैं; उस पर दृष्टिपात कीजिए । मरणधर्मा मनुष्य फसल की भाँति (समय पर) पकता (अर्थात् जर्जर होकर मर जाता) है; और पुनः (बोये जाने पर काल-क्रमानुसार) उत्पन्न होता है ।

**व्याख्या**—हे तात ! आप को असत्य आचरण नहीं करना चाहिए । अपने पूर्वज = पिता पितामह आदि के सदाचरण पर विचार कीजिए । उनके कृत्यों को देखकर आप व्रत-धारण करें । सदाचरण अतीत काल की केवल निधि नहीं है । वर्तमान काल में भी शिवि जैसे श्रेष्ठ लोग सत्य के अनल में जलकर

---

१. म्रियतेऽत्र इति मर्तः भूलोकः । मर्ते भवः मर्त्यः । मर्त + यत् ।

स्वर्ण सा चमक रहे हैं। अतएव आप उनके सत्कार्यों को देखकर मिथ्यायजन-वर्जन रूप व्रत का पालन कीजिए। मिथ्याचरण करके कोई भी व्यक्ति अजर और अमर नहीं हो सकता है। मनुष्य मरणधर्मा है। उसका विनाश अवश्यम्भावी है। जैसे सस्य (जौ गेहूँ आदि) कालरूप-सूर्य के द्वारा विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जीर्ण होकर मरने वाला है। सस्य पुनः वर्षा-धूप पाकर अङ्कुरित हो जाता है। मनुष्य भी अपने कर्मानुसार जन्म ग्रहण करता रहता है। जैसे सस्यादि बीज का नाश नहीं होता केवल उसके बाह्यरूप में परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार आत्मा का नाश नहीं होता, केवल शरीर का परिवर्तन होता रहता है। और इस परिवर्तन को कोई रोक नहीं सकता है। ततः मुझे भी एक दिन यम के मुख का ग्रास बनना ही है। आप मोह-त्यागकर मुझे यमराज के यहाँ भेजकर अपने वचन को सत्य प्रमाणित करें। इसी में आप का और हमारा दोनों का कल्याण है। महान् पुरुष सब कुछ त्यागकर सत्य के दीप को प्रज्ज्वलित रखते हैं।

**संबन्ध**—पुत्र के निश्चय और सदाचरण को देखकर उद्दालक ने अपने पुत्र को यमराज के यहाँ भेज दिया। पितृभक्ति के प्रभाव से नचिकेता सशरीर यमराज के घर पहुँच गया। यमराज की अनुपस्थिति को जानकर तीन दिन तक उपवास करता हुआ उसने यमराज की प्रतीक्षा की। देशान्तर से लौटने पर यम से उसके मन्त्रियों ने कहा—

**वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।**
**तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥**

**शा० भा०**—वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशत्यतिथिः सन् ब्राह्मणो गृहान् दहन्निव। तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराहर हे वैवस्वत ! उदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम्। यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥ ७ ॥

**अन्वय**—हे वैवस्वत ! ब्राह्मणोऽतिथिः वैश्वानरः (सन्) गृहान् प्रविशति। तस्य एतां शान्तिं (शिष्टजनाः) कुर्वन्ति। (अतः) उदकं हर ॥७॥

**शब्दार्थ**—वैवस्वत = विवस्वत (सूर्य) का पुत्र यम। वैश्वानर = विश्वानर को वैश्वानर कहते हैं। (विश्वानर + स्वार्थ में अण् प्रत्यय) वैश्वानर[1] अग्नि है। हर = ले आइए।

**अनुवाद**—(यमराज के मन्त्रियों ने कहा) हे सूर्यपुत्र यमराज! अतिथि ब्राह्मण, अग्नि (के रूप में) घरों में प्रवेश करता है। (शिष्टजन) उस (अतिथि ब्राह्मण रूप अग्नि) का इस प्रकार (अर्घ्य पाद्य जलदानादि देकर) शमन करते हैं। अतः (नचिकेता के पादप्रक्षालन के लिए) जल ले आओ ॥७॥

**व्याख्या**—जिसके आगमन की कोई तिथि न हो, अथवा जो रुकता नहीं है, चला जाता है, उसे अतिथि[2] कहते हैं। अतिथि सबके लिए पूज्य हैं। ब्राह्मण अतिथि साक्षात् अग्नि है।[3] जिस घर में प्रवेश करता है, मानो उस घर को जलाता हुआ ही प्रवेश करता है। इसलिए इस अग्नि का शमन सर्वप्रथम करना चाहिए। यदि ऐसे अतिथि का सत्कार नहीं किया जाया है, तो घर पापानल

---

१. "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।" गी० १५-१४।

× × ×

"व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः" बृ० उ० १।१।१।

विश्वान् नरान् नयति, विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। यास्क

१. अतति गच्छति न तिष्ठति इति। अत् + इथिन्। अथवा—अविद्यमाना तिथिर्यस्य सोऽतिथिः।

× × ×

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः। अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ मनु० ३-१०२

× × ×

यस्य न ज्ञायते नाम न गोत्रं न च स्थितिः।

अकस्माद् गृहमायातः सोऽतिथिः प्रोच्यते बुधैः।

२. धाता प्रजापति शक्रो वह्निर्वसुगणोऽर्यमा। प्रविश्यातिथिम्।

—वि० पु० ३।११।६७।

में जल जाते हैं। अतिथि घर की सुकृति को लेकर चला जाता है। अतः सर्वप्रथम अतिथि की सेवा करनी चाहिए। शिष्ट लोग अर्घ्य, पाद्य, जल आदि के द्वारा अतिथि ब्राह्मण रूपी अग्नि की शान्ति करते हैं। यह बालक भी ब्राह्मण अतिथि है। तीन दिन तक इसने उपवास किया है। इसलिए इस अग्नि की शान्ति के लिए आप शीघ्रातिशीघ्र स्वयं जल ले आइए। आप के द्वारा समुचित सत्कार पाकर यह अग्नि शान्त होगी। यद्यपि आप सूर्य-पुत्र होने से तेजोमय हैं फिर भी ब्राह्मण अतिथि का तेज अपरिमेय होता है। इसलिए उसकी शान्ति शास्त्र-वर्णित विधि से शीघ्रातिशीघ्र कीजिए।

**सम्बन्ध**—जैसे अशान्त अग्नि सम्पूर्ण घर को जला देती है, उसी प्रकार अनर्चित अतिथि सम्पूर्ण कर्म-फलों को नष्ट कर देता है—

**आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च**
**इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।**
**एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो**
**यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥ ८॥**

**शा० भा०**—आशाप्रतीक्षेऽनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थना आशा; निर्ज्ञात-प्राप्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा; ते आशाप्रतीक्षे, सङ्गतं तत्संयोगजं फलम्, सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक् तन्निमित्तं च, इष्टापूर्ते इष्टं यागजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम्, पुत्र-पशूंश्च सर्वानेतत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्ते आवर्जयति विनाशयतीत्येतत्पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य यस्यानश्नन्न-भुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे वसति। तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्थास्वप्यति-थिरित्यर्थः॥ ८॥

**अन्वय**—यस्य गृहे अनश्नन् ब्राह्मणः वसति (तस्य) अल्पमेधसः पुरुषस्य आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां च इष्टापूर्ते सर्वान् पुत्रपशूंश्च (इति) एतद् वृङ्क्ते॥८॥

**शब्दार्थ**—अनश्नन् = बिना भोजन किये हुए। अल्पमेधसः = मन्दबुद्धिवाले की। आशाप्रतीक्षे = आशा और प्रतीक्षा (अनिर्ज्ञात प्राप्य इष्ट अर्थ की प्रार्थना आशा कहलाती है; निर्ज्ञात अर्थात् निश्चित प्राप्य अर्थ = सुख की प्रतीक्षा करना

प्रतीक्षा है) । सङ्गतं = आशा और प्रतीक्षा की प्राप्ति से होने वाले सब प्रकार के फल = सुख, अथवा देवता के ध्यान से होने वाले फल । सूनृता = सुन्दर वाणी के फल । इष्टापूर्ते = इष्ट[1] = अग्निष्टोमादि याग जन्य फल तथा पूर्त[2] = वापी, कूप, तड़ाग, बाग आदि निर्माण जन्य फल । वृङ्क्ते = नष्ट कर देता है ।

**अनुवाद**—जिसके घर में बिना भोजन किये हुए ब्राह्मण (अतिथि) रहता है । (वह अतिथि) उस मन्दबुद्धि वाले पुरुष की आशा, (अप्रत्यक्ष इष्टार्थ को प्राप्त करने की प्रार्थना) प्रतीक्षा (निश्चित इष्टार्थ की प्राप्ति की प्रतीक्षा) संगत (आशा और प्रतीक्षा के संयोग से होने वाले अथवा देवता के ध्यान से होने वाले फल)[3], प्रिय वाणी से उत्पन्न फल, इष्ट (यज्ञादि), पूर्त (कूपादि निर्माण-जन्य फल) एवं समस्त पुत्र तथा पशु (धन) को नष्ट कर देता है । (अतः ब्राह्मण अतिथि सर्वथा पूज्य है) ।

**व्याख्या**—अतिथि के महत्त्व को बताते हुए कह रहे हैं कि—ब्राह्मण अतिथि जिसके घर में भूखा पड़ा रहता है, यदि उसकी अर्चना नहीं की जाती है, तो वह अतिथि उस गृहस्थ के सम्पूर्ण सुख-राशि को उसी प्रकार जलाकर भस्म कर देता[4] है, जैसे छोटी सी अग्नि की चिनगारी शुष्क पर्ण-राशि को राख कर देती है । मानव-जीवन, आशा और प्रतीक्षा के दलदल में व्यतीत होता रहता है । अज्ञात इष्ट वस्तु की निरन्तर अभिलाषा बनी रहती है । मनुष्य ज्ञात इष्ट अर्थ की प्रतीक्षा में अपने निराश जीवन को आशावान् बनाने की चेष्टा करता रहता है । इन दोनों की प्राप्ति से उसे असीम सुख की अनुभूति होती है । वह मधुर और

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥

२. वापीकूपतडागादिदेवतायनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥मनुस्मृ० ४-२२६

३. देवताध्यानजं फलम्, मणिप्रभा व्याख्या पृ० २९ ।

४. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति । वि० पु० ३।११।६६ ।

प्रिय वाणी बोलकर, अपरिमित सुख की अभिलाषा करता है। अपने भावी जीवन को सुखी बनाने के लिए शास्त्र-प्रतिपादित यज्ञ-फल की कामना करता है। अपने तथा दूसरों के हित के लिए कूप, वापी, बाग आदि का निर्माण करता रहता है। जो व्यक्ति ब्राह्मण अतिथि का समुचित सत्कार नहीं करता है, उसके सभी सुख तो नष्ट हो जाते हैं; साथ ही साथ पुत्र, स्त्री पशु-धन आदि जलकर राख हो जाते हैं। इसीलिए शिष्ट लोग अपना सब कुछ त्याग कर अतिथि की सेवा करते हैं। अतएव ब्राह्मण अतिथि सर्वथा पूज्य है।

नचिकेता को प्रसन्न करना अति आवश्यक है। उसके अप्रसन्न होने पर यमराज के सम्पूर्ण-सुख नष्ट हो जायेंगे।

**सम्बन्ध**—मंत्रियों के वचन को सुनकर यमराज ने, नचिकेता के पास जाकर अर्घ्यादि के द्वारा उसका सत्कार किया। इसके पश्चात् वे नचिकेता से बोले—

**तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽ**
**नश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।**
**नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु**
**तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥**

**शा० भा०**—एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम्-तिस्रो रात्रीर्यद्यस्मादवात्सीः उषितवानसि गृहे मे ममानश्नन् हे ब्रह्मन्न-तिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु। हे ब्रह्मन्! स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ताद्दोषात् तत्प्राप्त्युपशमेन। यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्तथापि त्वदधिकसम्प्रसादनार्थमनशनेनोषिताम् एकैकां रात्रिं प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व अभिप्रेतार्थविशेषान् प्रार्थयस्व मत्तः ॥ ९ ॥

**अन्वय**—हे ब्रह्मन्! नमस्यः अतिथि, ते नमः अस्तु, हे ब्रह्मन्! मे स्वस्ति अस्तु। यत् तिस्रः रात्रीः मे गृहे अनश्न अवात्सीः तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

**शब्दार्थ**—नमस्यः = नमस्कार करने योग्य। अवात्सीः = निवास किया है।

**अनुवाद**—हे ब्रह्मन् ! (आप) नमस्कार के योग्य अतिथि हैं; अतः आप को नमस्कार है। हे ब्राह्मण ! (तीन दिन तक आप ने उपवास किया है, इस अपराध को क्षमा कर दें ताकि) मेरा कल्याण हो। मेरे घर में (आप ने) जो तीन रात्रि तक बिना भोजन किये ही निवास किया है, उसके फलस्वरूप (प्रत्येक रात्रि के लिए) तीन वरदान माँग लीजिए ॥ ९ ॥

**व्याख्या**—यमराज ने नचिकेता का सत्कार करने के बाद कहा कि हे ब्राह्मण ! आप कुमार होते हुए भी ब्राह्मण अतिथि हैं, इसलिए आप नमस्कार के योग्य हैं अर्थात् आप की सविधि[1] पूजा होनी चाहिए थी, किन्तु आप को मेरे यहाँ तीन दिन तक उपवास करना पड़ा। इसलिए हम पाप के भागी हैं। आप को नमस्कार करता हूँ। आप की क्षमाशीलता ने मुझे क्षमा कर दिया है किन्तु आप से कल्याण-प्राप्ति की कामना करता हूँ। आप ने तीन रात्रि तक मेरे घर में उपवास किया है अतः आप मुझसे तीन वरदान माँग लें ताकि मुझे आप का अनुग्रह प्राप्त हो सके। आप के अनुग्रह की प्राप्ति से मेरे भावी अशुभ संकट के बादल छँट जायेंगे और मेरा जीवन सुख पूर्वक व्यतीत होगा ॥ ९ ॥

**सम्बन्ध**—बालक नचिकेता के अनशन से भयभीत यमराज ने जब वरदान माँगने को कहा, तब पितृभक्त नचिकेता ने यमराज से इस प्रकार कहा—

**शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्**
**वीतमन्युर्गौतमो माऽभि मृत्यो।**
**त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीत**
**एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥**

**शा० भा०**—शान्तसंकल्प उपशान्तः संकल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता माभि मां प्रति हे मृत्यो

---

१. अतिथि तत्र सम्प्राप्तं पूजयेत् स्वागतादिना। तथासनप्रदानेन पादप्रक्षालनेन च ॥
श्रद्धया चान्नदानेन प्रियप्रश्नोत्तरेण च। गच्छंश्चानुयानेन प्रीतिमुत्पादयेद् गृही
वि० पु० ३।११ पृ० ५८।

किंच त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मामभिवदेत्प्रतीतो लब्ध-स्मृतिः स एवायं पुत्रो ममागत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः। एतत्प्रयोजनं त्रयाणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत्पितुः परितोषणम् ॥१०॥

**अन्वय**—हे मृत्यो ! गौतमः मा अभि शान्तसंकल्पः सुमना वीतमन्युः यथा स्यात् (तथा) त्वत्प्रसृष्टं मा प्रतीतः (सन्) अभिवदेत्। एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

**शब्दार्थ**—मा अभि = मेरे प्रति। शान्तसंकल्पः = जिसका संकल्प शान्त हो। सुमना = प्रसन्न मन वाले। वीतमन्युः = क्रोध रहित। त्वत्प्रसृष्टं = तुम्हारे द्वारा वापस अपने घर भेजा हुआ। मा प्रतीतः = मुझ पर विश्वास कर (मेरा यह पुत्र है, ऐसा समझ कर)। अभिवदेत् = सम्भाषण करें। वृणे = वरण करता हूँ।

**अनुवाद**—हे यमराज ! गौतम (गौतम वंशीय मेरे पिता उद्दालक) मेरे प्रति शान्तसंकल्प वाले, प्रसन्न मन वाले तथा क्रोध-रहित हो जायँ। आप के द्वारा (अपने घर को) प्रेषित मुझ को (मेरा पुत्र नचिकेता है; समझ कर) पहचान कर मेरे साथ (पूर्ववत् प्रेमपूर्वक) बात करें। (तुम्हारे द्वारा प्रदत्त) तीन वरों में से यह प्रथम वर (आप से) माँगता हूँ।

**व्याख्या**—नचिकेता पिता का परम भक्त था। इसलिए उसने प्रथम वरदान में अपने पिता की प्रसन्नता की याचना की। उद्दालक ने आवेश में आकर नचिकेता को यमराज के यहाँ भेजा था। क्रोध का ज्वार जब उतर गया तब पिता पश्चात्ताप के अनल में जलने लगा। उसका मन अशान्त हो गया। वह बार-बार सोचने लगा कि मेरा पुत्र यमराज के यहाँ किस दशा में होगा। इसलिए उनका मन शान्त हो जाय। मेरे बार-बार पूछने पर—"मुझे आप किसे दे रहे हैं?"—पिता ने क्रोध में मुझे यमराज के यहाँ भेज दिया था। अतएव उनका मन प्रसन्न हो जाय तथा क्रोध के साक्षात् नरक-द्वार से मुक्त हो जायँ। इसके अतिरिक्त जब आप मुझे घर भेजें, उस समय मेरे पिता मुझे पुनः पहचान लें। मुझे प्रेत न समझें वरन् यह समझें कि मेरा पुत्र नचिकेता ही आया हुआ है। इतना ही नहीं, वे पूर्ववत् मुझ से प्रेमपूर्वक सम्भाषण करें। वे यह न सोचें कि मेरे पुत्र ने वचन को पूरा नहीं किया है अर्थात् यमराज के यहाँ न जाकर वह

बीच से ही लौट आया है। इसलिए ऐसे अवज्ञाकारी पुत्र से बात करने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें प्रतीत हो जाय कि मैं यमराज के द्वारा भेजा गया हूँ। अतः मुझे अपना आज्ञाकारी पुत्र मानकर मुझ से प्रेमपूर्वक बातचीत करें।

पिता यमराज के विकराल मुख में झोंक रहा है, पुत्र पिता की प्रसन्नता, और स्नेह के लिए लालायित है। नचिकेता जैसा पितृभक्त बालक स्वप्न में भी नहीं मिल सकता है।

**सम्बन्ध**—नचिकेता की याचना को सुनकर प्रसन्नतापूर्वक वर प्रदान करते हुए यमराज ने इस प्रकार कहा—

**यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत**
**औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।**
**सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां**
**ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥११॥**

**शा० भा०**—मृत्युरुवाच—यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात् पूर्वमासीत् स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतवान् सन्नौद्दालकिः उद्दालक एवौद्दालकिः। अरुणस्यापत्यमारुणिः, द्व्यामुष्यायणो वा। मत्प्रसृष्टो मयानुज्ञातः सन् इतरा अपि रात्री सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान् दृष्टवान् स मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात् प्रमुक्तं सन्तम् ॥११॥

**अन्वय**—त्वाम् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ददृशिवान् (सन्) मत्प्रसृष्टः (सन्) आरुणिः औद्दालकिः यथा पुरस्तात् प्रतीतः वीतमन्युः भविता, रात्रीः सुखं शयिता ॥११॥

**शब्दार्थ**—ददृशिवान् = देखकर। मत्प्रसृष्टः = मुझसे अनुगृहीत या प्रेरित अथवा अनुमोदित। आरुणिः = अरुण का पुत्र (उद्दालक, अरुण + अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय)। औद्दालकिः = उद्दालक (उद्दालक, स्वार्थ में अञ् प्रत्यय)। यथा पुरस्तात् = पूर्व की भाँति। प्रतीतः = विश्वास कर (कि मेरा पुत्र नचिकेता है) भविता = हो जायेंगे। शयिता = शयन करेंगे।

**अनुवाद**—(हे नचिकेता !) तुम्हें मृत्यु के मुख से मुक्त देखकर मेरे द्वारा प्रेरित (अनुमोदित) अरुणि के पुत्र उद्दालक (जो तुम्हारे पिता हैं) पूर्व की भाँति ही (तुम्हें) पहचानकर (कि यह मेरा पुत्र नचिकेता है; स्नेह युक्त होते हुए) दुःख और क्रोध से रहित हो जायेंगे (और वे अपनी आयु की अवशिष्ट) रात्रि में सुख-पूर्वक शयन करेंगे ॥११॥

**व्याख्या**—यम नचिकेता को वर देते हुए कह रहे हैं कि जब तुम यहाँ से अपने घर जाओगे, पिता तुम्हें पहचानकर अपरिमित स्नेह प्रदान करेंगे। उनके मन से क्रोध की रेखा समाप्त हो जायेगी। उनका मन प्रसन्न हो जायेगा। अतएव वे जीवन की शेष रात्रियों में चिन्ता—मुक्त होकर सुखपूर्वक शयन करेंगे।

**संबन्ध**—यम के द्वारा प्रथम वर पाकर, स्वर्ग के साधन भूत अग्नि को जानने की इच्छा से नचिकेता स्वर्ग के स्वरूप को बतला रहा है—

**स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति**
**न तत्र त्वं न जरया बिभेति।**
**उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे**
**शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥**

**शा० भा०**—नचिकेता उवाच—स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किञ्चन किञ्चिदपि नास्ति न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्त्वत्तो न बिभेति कुतश्चित् तत्र। किञ्चोभे अशनायापिपासे तीर्त्वातिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन् मानसेन दुःखेन वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥१२॥

**अन्वय**—स्वर्गे लोके किंचन भयं नास्ति। तत्र त्वं न (प्रभवसि अतः) जरया न बिभेति। उभे अशनायापिपासे तीर्त्वा शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते ॥१२॥

**शब्दार्थ**—अशनयापिपासे = क्षुधा और तृषा। तीर्त्वा = पारकर। शोकातिगः = दुःखों से दूर होकर। मोदते = आनन्द भोगते हैं।

**अनुवाद**—स्वर्गलोक में किसी प्रकार का (रोगादिजन्य) भय नहीं है। वहाँ तुम भी (एकाएक प्रभाव) नहीं (डाल पाते हो अतः वहाँ कोई भी पुरुष) जरा से (युक्त होकर इस संसार की भाँति तुम से) नहीं डरता है। क्षुधा और तृषा

इन दोनों (कष्टों को) पार कर शोक (मानसिक दुःख) से मुक्त होता हुआ (पुरुष) स्वर्गलोक में आनन्द प्राप्त करता है।

**व्याख्या**—स्वर्गलोक को प्राप्त करने वाला व्यक्ति त्रिविध दुःखों के भय से मुक्त रहता है। उसे सांसारिक व्यक्ति की भाँति रोग आदि दुःख के अनल में जलना नहीं पड़ता है। यमराज भी सहसा अपना प्रभाव नहीं डाल पाता है। जब तक उत्कट पुण्य रहता है तब तक यम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। मर्त्यलोक में वृद्धावस्था का सर्प डँसता रहता है। स्वर्गलोक में जरा-ग्रस्तता का नामोनिशान नहीं है। वहाँ पर क्षुधा और तृषा अपना प्रभाव डाल नहीं पाती है। इन दोनीं विकराल दुःख पर विजय पाकर स्वर्ग-निवासी मानसिक दुःखों से मुक्त रहता है तथा मर्त्यलोक के निवासी की अपेक्षा आनन्द के सागर में डुबकी लगाता रहता है।[1]

वस्तुतः स्वर्ग चिरकाल तक आनन्द प्रदान करने वाला है। अनन्त आनन्द की प्राप्ति तो आत्मसाक्षात्कार के बाद होती है। मर्त्यलोक की अपेक्षा स्वर्ग आनन्द प्रदान करता है। पुण्य क्षीण होने पर पुनः स्वर्गवासी को मर्त्यलोक में आना पड़ता है।[2]

**संबन्ध**—इस वरदान को पाकर नचिकेता द्वितीय वरदान माँगता है—

**स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो**<br>
**प्रब्रूहि एवं श्रद्दधानाय मह्यम्।**<br>
**स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते**<br>
**एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥**

**शा० भा०**—एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स त्वं मृत्युरध्येषि स्मरसि जानासि इत्यर्थः। हे मृत्यो यतस्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने; येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोकाः, यजमाना अमृतत्वम् अमरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति। तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥१३॥

१. ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्। गी० ९।२०।
२. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। गी० ९।२१।

**अन्वय**—हे मृत्यो ! स त्वम् स्वर्ग्यम् अग्निम् अध्येषि । (अतः) त्वम् मह्यम् श्रद्धधानाय (तम् अग्निम्) प्रब्रूहि । (येन अग्निना) स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते । (अतः) एतद् द्वितीयेन वरेण वृणे ॥१३॥

**शब्दार्थ**—स्वर्ग्यम् = स्वर्ग के साधनभूत (स्वर्ग + यत्) । अध्येषि = जानते हो । श्रद्दधानाय = श्रद्धालु के लिए । प्रब्रूहि = अच्छी प्रकार समझाइए । स्वर्गलोका = (स्वर्गो लोको येषां ते) स्वर्गलोक के निवासी । अमृतत्वम् = अमरत्व को । एतद् = इस अग्नि विद्या को ।

**अनुवाद**—हे मृत्युदेव ! आप (उपर्युक्त) स्वर्ग की प्राप्ति के साधन रूप अग्नि को (भलीभाँति) जानते हैं । (अतः) आप मुझ जैसे (स्वर्गार्थी) श्रद्धालु को (उस अग्नि विद्या को) अच्छी प्रकार (अर्थात् उसके चयन की समग्र विधि को) समझाइए । (इस अग्नि के चयन के कारण) स्वर्गलोक को प्राप्त करने वाले (यजमान) अमरत्व (देवत्व) को प्राप्त करते हैं । (अतः मैं) इस अग्नि विद्या को द्वितीय वर में माँगता हूँ ।

**व्याख्या**—नचिकेता ने यमराज से कहा-हे मृत्युदेव, आप स्वर्ग को प्राप्त करने वाली अग्नि विद्या को विधिपूर्वक जानते हैं । अतः आप ऐसा सुयोग्य गुरु कहाँ मिलेगा । मुझे भी उस विद्या को जानने की उत्कट अभिलाषा है । श्रद्धालु शिष्य को गुरु गुप्त विद्या भी बता देते हैं ।[1] इसलिए आप इस विद्या का विधिपूर्वक उपदेश दीजिए । जिसने इस विद्या का अनुष्ठान किया उसने स्वर्गलोक निवासी होकर अमरता को प्राप्त की । मुझे भी अमरता की प्राप्ति की अभिलाषा है । अतः मैं द्वितीय वरदान में इस अग्नि विद्या को माँगता हूँ ।

**संबंध**—नचिकेता के इस प्रकार के कहने पर यमराज ने कहा—

**प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध**
**स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।**
**अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां**
**विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥**

---

१. "ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत"—श्रीमद्भा० पु० १।१।९ ।

**शा० भा०**—मृत्योः प्रतिज्ञेयम्–प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि; यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन् स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निम् हे नचिकेतः प्रजानन् विज्ञातवानहं सन्नित्यर्थः। प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम् । अधुनाग्निं स्तौति। अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनम् इत्येतत् अथो अपि प्रतिष्ठाम् आश्रयं जगतो विराड्रूपेण, तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥१४॥

**अन्वय**—हे नचिकेतः ! स्वर्ग्यम् अग्निम् प्रजानन् ते प्र ब्रवीमि । तत् उ मे निबोध। त्वम् एतम् अनन्त[1]लोकाप्तिम् प्रतिष्ठाम् अथो गुहायाम् निहितम् विद्धि ॥१४॥

**शब्दार्थ**—प्रब्रवीमि = भली भाँति समझता हूँ। प्रजानन् = विधिपूर्वक जानता हुआ। उ = यत् शब्द के अर्थ में प्रयुक्त है (जिसे तुम माँग रहे हो)। अनन्त-लोकाप्तिम् = अविनाशी अर्थात् स्वर्गलोक फल की प्राप्ति का साधन। प्रतिष्ठाम् = जगत् की आधार स्वरूपा। गुहायाम् = बुद्धि में या बुद्धिरूपी गुहा में। निहितम् = छिपी हुई।

**अनुवाद**—हे नचिकेता ! स्वर्गदायिनी अग्नि विद्या को विधिपूर्वक जानने वाला मैं तुम्हारे लिए विस्तार पूर्वक बतलाता हूँ। (जिस अग्नि विद्या की तुमने प्रार्थना की है) उस विद्या को मुझसे भलीभाँति (एकाग्र मन से) जान लो। अनन्त लोक (अर्थात् स्वर्गलोक) को प्राप्त कराने वाली तथा (विराट् रूप से जगत् की) आधार स्वरूपा इस (अग्नि) विद्या को (विद्वानों की) बुद्धि (रूपी गुहा) में अन्तर्निहित समझो ॥१४॥

**व्याख्या**—यमराज ने देखा कि नचिकेता योग्य शिष्य है। इसलिए उसने सोचा कि सत्पात्र में दी हुई विद्या फलवती होती है।[2] अतः उसने नचिकेता से

---

१. 'अनन्त' शब्द चिरस्थायी वाचक है।

२. क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥ रघुवं० ३

× × ×

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति। मालवि० मि०

कहा—मैं इस अग्नि-विद्या का मर्मज्ञ हूँ। तुम मुझसे विधिपूर्वक एकाग्रचित्त से जान लो। यह अग्निविद्या स्वर्गलोक को प्राप्त कराने वाली है। इस विद्या के अनुष्ठान से व्यक्ति चिर काल तक स्वर्ग-सुख को प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः यही विद्या विराट् रूप से जगत् की आधार शिला है। अग्नि में हवन किया जाता है। अग्नि से ही यज्ञ का सम्पादन होता है। इसलिए अग्नि-विद्या जगत का आधार है। यह अग्निविद्या बाह्य पदार्थ नहीं है। ज्ञान रूप होने के कारण विद्वानों की बुद्धि रूपी गुहा में छिपी हुई है। साधारण लोग इस अग्नि स्वरूप ज्ञान के रहस्य को नहीं जानते हैं; परम विद्वान् ही जानते हैं। तुम भी मुझसे इस रहस्य को जानकर विद्वान् बन जाओ और जगत् के आधार की रक्षा कर स्वर्गलोक को प्राप्त करो।

गुहा[1] शब्द बुद्धि या हृदय के लिए प्रयुक्त होता है।

**संबन्ध**—अग्निविद्या की प्रशंसा कर यमराज ने अपने शिष्य से कहा—

**लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै**
**या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।**
**स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-**
**मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥**

**शा० भा०**—इदं श्रुतेर्वचनम्-लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान् मृत्युस्तस्मै नचि-

१. "तस्मादिदं गुहेव हृदयम्" श० प० ब्राह्मण १३-१-५-६।

× × ×

"गुहायां शरीरस्य मध्ये" तै० ब्रा० १-२-१-३।

× × ×

"गुहायां विदुषां बुद्धौ" शां० भा०।

× × ×

गुह् + क + टाप् = गुहा छिपाने वाला स्थान है। बुद्धि से सम्पूर्ण अर्थ छिपे हुए रहते हैं। इसलिए बुद्धि को गुहा कहते हैं।

केतसे। किं च या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपेण, यावतीर्वा सङ्ख्यया, यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतत् उक्तवानित्यर्थः। स चापि नचिकेतास्तन्मृत्युनोक्तं यथावत्प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान्। अथ तस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः॥१५॥

**अन्वय**—लोकादिं तम् अग्निम् तस्मै उवाच। याः यावतीः इष्टकाः यथा वा (तत्सर्वं उवाच) स चापि तत् यथोक्तं प्रत्यवदत्। अथ अस्य तुष्टः मृत्युः (नचिकेतसं) पुनः एव आह ॥१५॥

**शब्दार्थ**—लोकादिं = लोक अर्थात् स्वर्गलोक की कारण स्वरूप वाली अथवा पृथ्वी आदि की आदि = कारणरूपा। याः = जिस प्रकार की। यावती = जितनी संख्या। यथा = जिस प्रकार अग्नि का चयन किया जाता है। प्रत्यवदत् = (यमराज को) पुनः सब बता दिया।

**अनुवाद**—(यमराज ने) स्वर्ग लोक अथवा पृथ्वी आदि लोकों की आदि = कारण स्वरूप वाली अग्निविद्या को नचिकेता के लिए बताया। (इस अग्निविद्या के चयन में) जिस प्रकार की (ईटों की आवश्यकता होगी तथा) ईटों की जितनी संख्या (लगेगी और अग्नि का) जिस प्रकार चयन (किया जायेगा, उन सभी बातों को बता दिया)। और उस नचिकेता ने भी (अग्निविद्या की विधि यमराज से) जिस प्रकार सुनी थी, ठीक उसी प्रकार (समझकर, यम को अपनी ग्रहण-क्षमता को बताने के लिए उस विद्या को) पुनः सुना दिया। इसके (नचिकेता के सुनाने के) पश्चात् (नचिकेता की ग्रहण शक्ति से) प्रसन्न (संतुष्ट) होकर यम ने (नचिकेता से) पुनः कहा ॥१५॥

**व्याख्या**—सम्पूर्ण लोकों अथवा स्वर्ग लोक का कारण अग्नि है। अग्नि में हवन करने से ही सृष्टि होती है।[1] अग्नि से उत्पन्न होने वाली सृष्टि अग्नि में अंतर्भूत

---

१. एतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति। तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति।
छा० उ० ५।८।२

99360

हो जाती है ।[१] पञ्चाहुति[२] से ही सृष्टि होती है । आहुति का आधार ही अग्नि है । इसलिए अग्नि लोकों का कारण है । अथवा अग्नि स्वरूप (तेजोमय) ब्रह्म से ही सृष्टि होने के कारण अग्नि लोकों का कारण हैं ।[३] अथवा परमात्मा से सर्वप्रथम अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति हुई[४] और अग्नि से ही सम्पूर्ण सृष्टि का विकास हुआ इसलिए अग्नि लोकों का कारण है । यह कारण रूप अग्नि परमात्मा का शिर[५] है । इसी अग्नि में हवन करने से स्वर्गलोक की प्राप्ति होती हैं । इसलिए यह स्वर्गलोक का भी कारण है । इस अग्नि को यमराज ने नचिकेता के लिए बताया ।

अग्नि के लिए कुण्ड आदि निर्माण में जिस प्रकार और जितनी ईटों की आवश्यकता पड़ेगी, उसे भी बताया । अनेक प्रकार के कुण्ड होते हैं । सबके स्वरूप में अन्तर होने के कारण ईटों के स्वरूप और संख्या में अन्तर होता है । इसलिए यमराज ने विधिपूर्वक नचिकेता को समझाया । इतना ही नहीं, इस अग्नि का चयन कैसे किया जाता है, इसे भी यम ने स्पष्ट बता दिया । नचिकेता की बुद्धि कुशाग्र थी । अतः उसने इसो ठीक ढंग से समझ लिया । अपनी क्षमता बताने के लिए अथवा अपने ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए नचिकेता ने यम से सीखी हुई विद्या को सीखे हुए क्रम से यमराज को बता दिया । यमराज नचिकेता की जिज्ञासा और उसके अद्वितीय ज्ञान-धारण की क्षमता को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो गए । संतुष्ट होकर नचिकेता से उन्होंने पुनः कहा—

**तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा**
**वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।**
**तवैव नाम्ना भवितायमग्निः**
**सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥**

---

२. पञ्चभ्योऽग्निभ्यः संभूत उत्पन्नो भवति तस्मा एव अग्नये हरन्ति ॥
छा० उ० शा० भा० ९।२

३. पञ्चम्पामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्ति । छा० उ० ९।१

४. अर्चिमद्यदणुभ्योऽणु····मु० उ० २।२।२, अग्निः एतत् वै । कठ० उ० २।१।८

१. तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः मु० उ० २।१।५

२. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ । मु० उ० २।१।४

**शा० भा०**—कथम्-तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन् प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन्महाक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीति-निमित्तमद्येदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि। तवैव नचिकेतसो नाम्नाभिधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः। किं च सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु। यद्वा सृङ्काम् अकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण। अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेक-फलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

**अन्वय**—प्रीयमाणः महात्मा तम् अब्रवीत्। अद्य (अहं) तव इह भूयः वरं ददामि। अयम् अग्निः तव एव नाम्ना भविता। इमां च अनेकरूपां सृङ्कां गृहाण ॥१६॥

**शब्दार्थ**—प्रीयमाण = प्रसन्न हुए। सृङ्काम्—१. रत्नों की माला को २. शब्दवती रत्ना माला को ३. अकुत्सित लोगों की कर्ममयी गति (शङ्कराचार्य) ४. कुत्सित जनों का वित्तमय मार्ग। इह = यहाँ अर्थात् (प्रसन्न होने के कारण)।

**अनुवाद**—(नचिकेता की अलौकिक प्रज्ञा को देखकर) प्रसन्नचित्त महात्मा (उदारचित्त वाले) यम ने नचिकेता से कहा—(तुम्हारी प्रतिभा से) प्रसन्न होने के कारण तुम्हें आज (तुम्हारे द्वारा माँगे गये तीन वरों से अतिरिक्त) एक अधिक वरदान देता हूँ। (मेरे द्वारा कही गई) यह अग्नि तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध होगी और (इतना ही नहीं तुम्हें और एक वर के रूप में) अनेक (नील पीत आदि) रूपों वाली माला (दे रहा हूँ जिसे) को स्वीकार करो ॥१६॥

**व्याख्या**—प्रतिभावान् शिष्य गुरु के उत्साह को बढ़ाता है। वह अपनी प्रतिभा से गुरु को प्रसन्न कर उससे विना माँगे ही अनमोल वरदान प्राप्त कर लेता है।[1] यमराज ने नचिकेता की प्रतिभा को देखकर उसे एक वरदान और दे दिया। उसने कहा "मैं तुम्हारे ज्ञान और आचरण से अति संतुष्ट हूँ। इसलिए मैं

---

१. अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम।
अनापृष्टमपि ब्रूयूर्गुरवो दीनवत्सलः। श्रीमद् भा० ३।७।३६

तुम्हें एक और वरदान दे रहा हूँ। मेरे द्वारा कही गई यह अग्नि-विद्या आज से तुम्हारे नाम से जानी जायेगी अर्थात् लोग इसे नाचिकेत अग्नि के नाम से जानेंगे इतना ही नहीं मैं तुम्हें अनेक रूप वाली एक मनोहर शब्दमयी रत्नमाला दे रहा हूँ, जो तुम्हारी शोभा बढ़ायेगी और इसके द्वारा तुम अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त कर सकोगे।

यमराज के द्वारा प्रदत्त माला के विषय में संदेह हो सकता है कि यह कैसी माला है ? हो सकता है यमराज ने रत्नसयी माला दी हो। गुरु शिष्य की प्रतिभा को देखकर उसे पुरस्कार देता है। यमराज ने भी उसे मनोहर माला दी हो। 'अनेक रूप' शब्द माला के दो अर्थों को अभिव्यक्त करता है। माला नील, पीत आदि रूप वाली रही होगी अथवा उस माला को धारण करने से अनेक रूप वाले भोगों की प्राप्ति की जा सकती है। मंत्र-तंत्र में अमोघ शक्ति होती है।

अथवा माला का अर्थ ज्ञान-माला है। यह ज्ञान-माला अनेक रूप वाली है। सांसारिक भोगों को प्रदान करने की इसमें क्षमता है। जैसा कि आचार्य शङ्कर ने इसे कर्ममयी माला भी स्वीकार किया है।[1]

यदि 'रत्नमाला' को स्वीकार किया जाय तो प्रसङ्ग की पुष्टि हो जाती है, यम गुरु ने शिष्य की प्रतिभा से अत्यन्त प्रसन्न होकर अतिरिक्त वरदान के साथ-साथ पुरस्कार रूप में मनोहारिणी माला प्रदान की।

**संबंध**—यमराज उस अग्निविद्या का फल बतला रहे हैं—

**त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धि**
**त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।**
**ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा**
**निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ १७॥**

**शा० भा०**—पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाह-त्रिणाचिकेतस्त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा।

---

१. सृङ्काम् अकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण शा० भा० १।१६।

त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनम् यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तरादवगम्यते "मातृमान्पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्" [बृ० उ० ४।१।२] इत्यादेः । वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्याक्षानुमामानागमैर्वा । तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा, त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू । किं च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः । ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ । तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो निचाय्यदृष्ट्वा चात्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिम् उपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति । वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१७॥

**अन्वयः**—त्रिणाचिकेतः त्रिभिः सन्धिम् एत्य त्रिकर्मकृत जन्ममृत्यू तरति । ब्रह्मजम् ईड्यं देवं विदित्वा निचाय्य इमाम् अत्यन्तं शान्तिम् एति ॥१७॥

**शब्दार्थः**—त्रिणाचिकेतः = (त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स अर्थात्) इस नाचिकेत अग्नि का शास्त्रोक्त रीति से तीन बार अनुष्ठान करने वाला, अर्थात् उस अग्नि का ज्ञान, अध्ययन और अनुष्ठान करने वाला । त्रिभिः सन्धिम् एत्य = तीनों (माता, पिता, आचार्य; या वेद, स्मृति और शिष्ट या प्रत्यक्ष अनुमान और आगम, या ऋक्, साम या यजुर्वेद) से । सन्धि = संबंध स्थापित कर । त्रिकर्मकृत = यज्ञ, अध्ययन और दान कर्मों को करने वाला । ब्रह्मजज्ञं = ब्रह्म से उत्पन्न सृष्टि को जानने वाला सर्वज्ञ अग्नि को (ब्रह्म = हिरण्यगर्भ उस हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होने वाला जगत् ब्रह्मज कहलाता है, इस ब्रह्मज = जगत का ज्ञ = ज्ञाता सर्वज्ञ अग्नि है इसलिए इस सर्वज्ञ अग्नि को जातवेदस्[1] कहते हैं) । ईड्य = स्तुत्य देव = द्योतनस्वभाव वाले अग्नि देव को निचाय्य = चयन करके ।

**अनुवाद**—इस नाचिकेत अग्नि का तीन वार चयन (अर्थात् इसका ज्ञान, अध्ययन एवं अनुष्ठान) करने वाला व्यक्ति) तीनों (माता, पिता, आचार्य; या

---

१. जातानि वेद जातवेदस् निरुक्त ७ ।

वेद, स्मृति, शिष्ट जन; या प्रत्यक्ष अनुमान, आगम; या ऋक्, साम, यजुर्वेद) से सम्बन्ध (अनुशासन) को प्राप्त कर तथा तान कर्मों (यज्ञ, अध्ययन और दान का) कर्ता होकर जन्म आर मृत्यु को पार कर जाता है। ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होने वाले जगत् को जानने वाले सर्वज्ञ स्तुत्य प्रकाशस्वरूप अग्नि देव को जानकर तथा उसका चयन कर (अर्थात् आत्मभाव से जानकर स्वबुद्धि से प्रत्यक्ष की जाने वाली) इस परम शान्ति को प्राप्त करता है।

**व्याख्या**—किसी भी वस्तु का जब तक सम्यक् ज्ञान नहीं होता है तब तक उसके अनुष्ठान से समग्र फल की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए यमराज ने तीन बार चयन की बात बतायी अर्थात् जो व्यक्ति इस अग्नि के विषय में सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उसका बार-बार अध्ययन कर अनुष्ठान करता है वही समग्र फल को प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, अपने ज्ञान को प्रमाणित करन के लिए उपर्युक्त आचार्यादि से शिक्षा लेकर अनुशासित होना पड़ता है। इसके पश्चात् जब निष्काम भाव से अध्ययन और दान किया जाता, तब व्यक्ति को जन्म-मरण के संसार-चक्र से मुक्ति मिलती है। वस्तुतः यह अग्नि, ब्रह्मजज्ञ है क्योंकि यह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) से उत्पन्न होने वाली सृष्टि को जानती है। सम्पूण सृष्टि को जानने के कारण इसे जातवेदस् भो कहते हैं। यह अग्नि सभी जनों से स्तुत्य है। प्रत्येक लोक के निवासी इसकी स्तुति करते हैं। यह प्रकाश-शील देव है। कर्म और उपासना के द्वारा जो इसका आत्मभाव से साक्षात्कार कर लेता है। वह अत्यन्त शान्तिपद अर्थात् वैराज (जहाँ निरन्तर प्रकाश औरआनन्द रहता है) पद को प्राप्त करता है।

यमराज के कहने का आशय यह है कि अग्नि ही संसार का नियामक है। यही सर्वज्ञ स्तुत्य और कर्म तथा उपासना के द्वारा सेव्य है। इसका प्रत्यक्ष करने के लिए आचार्यादि सुधी जनों की शरण लेकर निष्काम भाव से यज्ञ, अध्ययन और तपस्या करनी पड़ेगी। जब साधक इस अग्नि का आत्मभाव से प्रत्यक्ष कर लेगा, उस समय परम शान्ति को प्राप्त कर लेगा। उसे जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति मिल जायेगी अर्थात् चिरस्थायी सुख को प्राप्त कर लेगा ॥१७॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

**शा० भा०**—इदानीमग्निविज्ञानचयनफलम् उपसंहरति प्रकरणं च—त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद् विदित्वावगत्य यश्चैवमात्मरूपेण अग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशान् अधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान् पुरतः अग्रतः पूर्वमेव शरीरपातात् इत्यर्थः, प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत् मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या ॥१८॥

**अन्वय**—एतत् त्रयम् विदित्वा त्रिणाचिकेतः यः (कोऽपि पुरुषः) एवं विद्वान् नचिकेतं चिनुते, सः मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते ॥१८॥

**शब्दार्थ**—एतत् त्रयम् = ईटों के स्वरूप, संख्या और अग्नि की चयन-विधि । पुरतः = सामने (अर्थात् शरीर पात के पूर्व ही) प्रणोद्य = काटकर । मोदते = आनन्द का अनुभव करता है ।

**अनुवाद**—ईटों के स्वरूप, (उनकी) संख्या और अग्नि-चयन-विधि = इन तीनों बातों को जानकर तीन बार नाचिकेत अग्निविद्या का अनुष्ठान करने वाला जो (कोई पुरुष) इस प्रकार (अर्थात् आत्मभाव से विराट् रूप अग्नि को) जानता हुआ नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह मृत्यु के पाश (अर्थात् अधर्म अज्ञान आदि शत्रुओं को) अपने सामने (अर्थात् शरीर पात के पूर्व ही) काटकर शोक समुद्र) को पार कर स्वर्गलोक में आनन्द प्राप्त करता है ।

**व्याख्या**—अग्नि-विद्या के चयन का फल बनाते हुए यमराज कह रहे है कि अग्नि-चयन के समग्र विधि को जानकर अनुष्ठान करने वाले को अग्नि को विराट् रूप में समझना चाहिए । जो निष्काम भाव से नाचिकेत अग्नि का ध्यान करता है, वह बड़ी ही सरलता से अजान, अधर्म, काम, क्रोध आदि (जो मृत्यु के विकराल पाश हैं) पर विजय प्राप्त कर लेता है । वस्तुतः अग्नि संसार का

कारण है। उसके विराट् स्वरूप को समझना चाहिए। इस अग्नि में आत्मभाव होना चाहिए। आत्मभाव से इस अग्नि की उपासना करने वाले के मानसिक कष्ट नष्ट हो जाते हैं और चित्त निर्मल हो जाता है, उसके सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं। जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। प्रारब्ध कर्म के नष्ट होने पर उसके शरीर का विनपात हो जाता है और वह चरम आनन्द अर्थात् वैराज पद को प्राप्त कर लेता है।

**संबन्ध**—यमराज द्वितीय वर के प्रकरण का उपसंहार कर रहे हैं।

**एषतेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो**
**यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।**
**एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-**
**स्तृतीयं वरं नचिकतो वृणीष्व ॥१९॥**

**शा० भा०**—एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यः स्वर्गसाधनो यमग्निं वरमवृणीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः। किञ्चैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतत्। एष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन। तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व। तस्मिन् ह्यदत्त ऋणवानहमित्यभिप्रायः ॥१९॥

**अन्वय**—हे नाचिकेत एष ते स्वर्ग्यः अग्निः (मया ईरितः) यं द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः। जनासः एतम् अग्निम् तव एव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति। हे नचिकेतः तृतीयम् वरम् वृणीष्व ॥१९॥

**शब्दार्थ**—स्वग्र्यः = स्वर्ग प्रदान करने वाली (स्वर्ग + यत्) अवृणीथाः = वरण किया था।

**अनुवाद**—हे नचिकेता! यह तुम्हें (बतायी गयी) स्वर्ग प्रदान करने वाली अग्नि विद्या है, जिसे तुमने दूसरे वरदान में माँगा था। मनुष्य (आज से) इस अग्नि को तुम्हारे ही नाम से (अर्थात् नाचिकेत अग्नि के रूप में) कहेंगे। (प्रसन्न होकर मैंने तुम्हें एक वर और दे दिया है)। हे नचिकेता (अब तुम स्व अभिलषित) तीसरा वर माँगो ॥१९॥

**व्याख्या**—नाचिकेत ! अग्नि के चयन फल को बताने के पश्चात् यम ने नचिकेता से कहा कि यह अग्निविद्या आज से तुम्हारे नाम से जानी जायेगी । यह तुम्हारे लिए चौथा वरदान है । इसे वरदान को मैंने तुम्हें प्रसन्न होकर दिया है । अब तुम अपना तृतीय वर माँग लो ।

वस्तुतः यदि शिष्य में प्रतिमा और गुरु के प्रति भक्ति रहती है तो गुरु उसकी अभिलाषा को पूर्ण करता हुआ उसे अधिक से अधिक वरदान दे देता है । इसलिए गुरु के अत्यधिक प्राप्त करने के लिए गुरु-भक्ति और प्रतिभा की आवश्यकता होती है ।

**संबन्ध**—नचिकेता तृतीय वर की याचना करता है—

**येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽ-**
**स्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।**
**एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं**
**वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥**

**शा० भा०**—नचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन्येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येके अस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्ध्यात्मेत्येके नायम् अस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैकेऽतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वानुमानेन निर्णयविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहम् अनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया । वराणाम् एष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥२०॥

**अन्वय**—मनुष्ये प्रेते (सति) या इयम् विचिकित्सा, एके (आहुः) अयम् (आत्मा) अस्ति इति, एके (आहुः अयमात्मा) न च अस्ति इति । त्वया अनुशिष्टः अहम् एतद् विद्याम् । वराणाम् एषः तृतीयः वरः ॥२०॥

**शब्दार्थ**—प्रेते = मृत होने पर । विचिकित्सा = संशय । अनुशिष्टः = ज्ञापित (उपदेश पाया हुआ) । विद्याम् = समझ लूँ ।

**अनुवाद**—मनुष्य के मृत हो जाने पर जो यह सन्देह है—(क्या ?) एक



११९६०

अर्थात् कुछ (वेदवेत्ता कहते हैं कि इस आत्मा का अस्तित्व) रहता है। अन्य (नास्तिक लोग कहते हैं कि इसका अस्तित्व) नहीं रहता है। आप से ज्ञापित अर्थात् उपदेश पाया हुआ मैं इस (रहस्य) को (भलीभाँति) जान लूँ। यह वरों में तीसरा वर है ।।२०।।

**व्याख्या**—लौकिक सुख के साधन स्वरूप दो वरदानों के माँगने के पश्चात् नचिकेता ने आत्मा के अस्तित्व को जानना चाहा। अनादि काल से आत्मा के अस्तित्व पर विवाद चलता आ रहा है। वेद के अस्तित्व को मानने वालों का कहना है कि देहादि से अतिरिक्त आत्मा नामक कोई तत्त्व है। मनुष्य की मृत्यु (देहादि के नष्ट हो जाने) के बाद आत्मा नामक तत्त्व बचा रह जाता है, जिसमें मनुष्य के द्वारा किये गये कर्मों की वासनाएँ रहती हैं। इन्हीं वासनाओं के कारण आत्मा को दूसरा शरीर धारण कर सांसारिक वेदना के अनल में जलना पड़ता है। आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार हो जाने पर व्यक्ति जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

नास्तिकों का कहना है कि देहादि से अतिरिक्त आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है। शरीर के नाश होने के बाद कोई ऐसा तत्त्व नहीं बचा रहता है जिसमें कर्मों की वासनाएँ अनुस्यूत हों।

इस संदेह के निवारण के लिए नचिकेता ने यमराज ने से कहा कि आप योग्य गुरु हैं। आप मृत्यु के देवता हैं। इसलिए आप का अनुभव प्रामाणिक होगा। अतः आप मेरे इस संदेह को दूर कीजिए ताकि मैं भी इस आत्म-तत्त्व को अच्छी प्रकार समझ सकूँ।

वस्तुतः नचिकेता ने तीसरे वरदान में आत्मा के स्वरूप और उसे जानने के उपायों को जानकर मुक्ति प्राप्त करने के लिए यमराज से तीसरा वरदान माँगा।

**संबंध**—नचिकेता के गूढ़ प्रश्न को सुनकर यमराज ने प्रसन्नता का अनुभव किया। उन्होंने शिष्य की परीक्षा लेकर ही आत्म-ज्ञान की शिक्षा देना उचित

समझा क्योंकि विद्या अपात्र को नहीं दी जाती है। इसलिए यमराज ने उसे सांसारिक प्रलोभन में फँसाकर उसकी परीक्षा लेने के लिए भूमिका प्रस्तुत की—

**देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा**
**न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।**
**अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व**
**मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥**

**शा० भा०**—किमयमेकान्ततो निःश्रेयसाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह—देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि सुष्ठु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसन्दिग्धफलं वरं नचिकेतो वृणीष्व। मा मां मोपरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णम् इवोत्तमर्णः। अतिसृज विमुञ्च एनं वरं मा मां प्रति ॥२१॥

**अन्वय**—हे नचिकेतः! पुरा देवैः अपि अत्र विचिकित्सितम्। हि एषः धर्मः अणुः, न सुविज्ञेयम्। अन्यम् वरम् वृणीष्व। मा मा उपरोत्सीः। एनं मा अतिसृज ॥२१॥

**शब्दार्थ**—पुरा = पहले। अत्र = आत्म-तत्त्व-विषय में। अणुः = सूक्ष्म। सुविज्ञेयः = सरलता से जानने के योग्य। उपरोत्सीः = निर्बन्ध करो (दबाव डालो) अतिसृज = लौटा दो (मुक्त कर दो)।

**अनुवाद**—हे नचिकेता! पहले देवताओं ने भी इस (आत्मा के) विषय में सन्देह किया था (तो साधारण लोगों की क्या बात है?) निश्चय करके यह आत्मा नामक धर्म अत्यन्त सूक्ष्म है (अतः प्राकृत मनुष्यों के द्वारा) सरलता पूर्वक जानने योग्य नहीं है। (तुम) दूसरा वर माँग लो। (इस वर को माँगने के लिए तुम) मुझ पर दबाव मत डालो। इस (वरदान) को मुझे लौटा दो (अर्थात् मुझे इस वर से मुक्त कर दो) ॥२१॥

**व्याख्या**—आत्म तत्त्व की सूक्ष्मता का प्रतिपादन करते हुए यमराज नचिकेता से कह रहे हैं कि यह आत्म-तत्त्व पहले (अर्थात् जब तक इसका साक्षात्कार नहीं

हुआ था) शम-दम आदि नियमों का पालन करने वाले देवताओं के द्वारा भी नहीं जाना गया था। वे लोग भी इसके विषय में सन्देह[1] करते थे। जब देवों की यह दशा थी तो सांसारिक लोग इस आत्म तत्त्व को कैसे जान सकते हैं। यह आत्म-तत्त्व अत्यन्त अणु अर्थात् सबका अधिष्ठानभूत अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है। इसे रूप, रसादि की भाँति सरलता पूर्वक नहीं जाना जा सकता है। इसलिए तुम अभी बालक हो। इस आत्म तत्त्व को नहीं समझ पाओगे। जैसे महाजन, कर्ज़दार पर दवाव डालता है, उसी प्रकार वर देने के लिए मुझ ऋणी पर दबाव मत डालो। इस वरदान के बदले दूसरा मनोवाञ्छित वर माँग लो, इसको मेरे लिए छोड़ दो अर्थात् मेरे ऐसे प्रौढ़ मस्तिष्क वालों को समझने, समझाने के लिए छोड़ दो।

**संबंध**—आत्म तत्त्व की गुरुता और सूक्ष्मता से नचिकेता घबड़ाया नहीं। उसने दृढ़ता के साथ यमराज से कहा—

**देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल**
**त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।**
**वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो**
**नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥**

**शा० भा०**—देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भवत एव नः श्रुतम्। त्वं च मृत्यो यद्यस्मान्न सुज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथयसि, अतः पण्डितैरप्यवेदनीयत्वाद् वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्त्वत्तुल्यः अन्यः पण्डितश्च न लभ्यः अन्विष्यमाणोऽपि। अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुः। अतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥२२॥

**अन्वय**—अत्र देवैः अपि विचिकित्सितम् किल। हे मृत्यो! त्वं च यत् (आत्मतत्त्व) न सुविज्ञेयम् (इति) आत्थ। अस्य वक्ता च त्वादृग् अन्यः न लभ्यः। एतस्य तुल्यः अन्यः कश्चित् वरः न।

---

१. द्र० छा० उ० अ० ८।

**शब्दार्थ**—आत्थ = कहा ।

**अनुवाद**—(नचिकेता ने कहा, आप से मैंने अभी सुना है कि) हे मृत्यु ! देवताओं ने भी इस (आत्म तत्त्व के) विषय में सन्देह किया था और आप भी कहते हैं कि यह (आत्मतत्त्व) अनायास जानने के योग्य नहीं है । (पण्डितों के द्वारा भी अगम्य होने के कारण उनसे मैं इसे नहीं जान सकता, अतः) इस (आत्मतत्त्व) का उपदेष्टा भी आप के समान दूसरा नहीं मिलेगा । (इसलिए मैं इस आत्मा को आप से अवश्य जानना चाहूँगा) । इसके समान कोई दूसरा वर नहीं है ॥२२॥

**व्याख्या**—आपने अभी बताया है कि शम दम आदि सत्साधनों से युक्त देवों ने इस आत्म-तत्त्व को नहीं समझा । आप भी इसकी गुरुता का प्रतिपादन कर रहे हैं । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह आत्म-तत्त्व अत्यन्त महान् वस्तु है । अतः इसे जानने वाला भी महान् हो जायेगा । दूसरी बात यह है कि पण्डित लोग भी इसे जानते नहीं । इसलिए इसे जानने के लिए उन्हें भी गुरु नहीं बनाया जा सकता है । आपके समान आत्म तत्त्व का वक्ता (उपदेष्टा) दूसरा कोई नहीं है । आप से अतिरिक्त इसे कौन बता सकता है ? इसलिए इस आत्म तत्त्व के अतिरिक्त इसकी तुलना में कोई दूसरा वर है ही नहीं । ब्रह्म स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त सभी वस्तुएँ अनित्य हैं । इसलिए इस वर की तुलना में दूसरा कोई वर नहीं है, जिसे मैं आप से माँगू । अतः मुझे यही वरदान दीजिए ॥२२॥

**संबंध**—विषय की गम्भीरता से विचलित न होने वाले नचिकेता को यमराज ने पुनः प्रलोभन के जाल में फँसाने की योजना बनायी—

**शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व**
**बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।**
**भूमेर्महदायतनं वृणीष्व**
**स्वयं जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥**

**शा० भा०**—एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—शतायुषः शतं वर्षाण्यायूंषि एषां तान्शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व । किंच गवादिलक्षणान्

बहून् पशून् हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम् अश्वांश्च किं च भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलं राज्यं वृणीष्व। किं च सर्वमप्येतद् अनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह—स्वयं च जीव त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम् ॥२३॥

**अन्वय**—शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व। बहून् पशून् हस्तिहिरण्यम् अश्वान् (वृणीष्व)। भूमेः महत् आयतनम् वृणीष्व। स्वयं च यावत् शरदः इच्छसि, जीव ॥२३॥

**शब्दार्थ**—शतायुषः = सौ वर्षों की आयु वाले। आयतनम् = मण्डल (साम्राज्य)। शरदः = वर्ष।

**अनुवाद**—(हे नचिकेता) तुम सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्रों को, बहुत से (गौ आदि) पशुओं को (तथा) हाथी, स्वर्ण एवं घोड़ों को (मुझसे) माँग लो। पृथ्वी के बड़े विस्तार वाले मण्डल अर्थात् साम्राज्य की याचना कर लो। (तुम) स्वयं जितने वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करते हो, जीवित रहो ॥२३॥

**व्याख्या**—मनुष्य पुत्रादि और धन के लिए लालायित रहता है। इसलिए यमराज ने कहा कि हे नचिकेता! तुम सौ वर्ष आयु वाले पुत्र-पौत्रों को माँगकर आनन्द करो। उनके भरण-पोषण के लिए गो आदि दूध देने वाले पशुओं को माँग लो। यात्रा करने के लिए हाथी और घोड़ों को ले लो। आभूषण से सुसज्जित होने के लिए सुवर्ण ले लो। इतना ही नहीं वसुधा के विस्तृत भाग का साम्राज्यत्व भी तुम्हें प्रदान करता हूँ। सम्पूर्ण वैभव का दीपक दीर्घ आयु के स्नेह के विना बुझ ज़ायेगा। अतः तुम इस वैभव का भोग का भग करने के लिए जितने वर्षों तक जीवित रहना चाहते हो, तुम जीवित रह सकते हो। मृत्यु तुम्हारी वशवर्तिनी रहेगी। इन सभी वस्तुओं को लेकर संसार का सुख भोगो, व्यर्थ के आत्म-तत्त्व के दलदल में क्यों फँस रहे हो? ॥२३॥

**एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं**
**वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।**
**महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि**
**कामानां त्वां कामभाजं करोमि ॥२४॥**

**शा० भा०**—एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व। किं च वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च वित्तेन सह वृणीष्वेत्येतत्। किं बहुना महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव। किं चान्यत्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि। सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः॥ २४॥

**अन्वय**—एतत् तुल्यं यदि (अन्यं) वरं मन्यसे (तमपि) वृणीष्व। वित्तं चिरजीविकां च वृणीष्व। हे नचिकेतः! त्वं महाभूमौ एधि। (अहं) त्वा कामनां कामभाजं करोमि ॥२४॥

**शब्दार्थ**—एतत् = इस आत्म तत्त्व विषयक वर। एधि = सम्राट बन जाओ। कामानां = सम्पूर्ण (कमनीय) भोगों में से। कामभाजम् = काम को भोगने वाला।

**अन्वय**—इस (आत्मतत्त्व विषयक वर) के समान यदि (कोई अन्य) वर समझते हो तो उसे (ले लो) और वित्त (प्रभूत हिरण्यरत्नादि) तथा चिर काल तक चलने वाली जीविका माँग लो। हे नचिकेता! तुम इस विस्तृत भूमिपर वृद्धि प्राप्त करो (अर्थात् सम्राट के रूप में शासन करो)। मैं तुमको (दिव्य और मानुषिक) कामनाओं (भोगों का) इच्छानुसार भोग करने वाला बना देता हूँ ॥२४॥

**व्याख्या**—यमराज ने नचिकेता को प्रलोभन के जाल में बाँधने के लिए उससे कहा कि यदि तुम आत्मविषयक वर के समान कोई दूसरा वर समझते हो तो उसे माँग लो। इसके साथ-साथ मैं तुम्हें प्रभूत हिरण्य, रत्न, मणि आदि साधनों से सुशोभित कर दूँगा तथा चिरजीविका भी दूँगा ताकि तुम्हारे समय का सदुपयोग हो और रत्नादि की सुरक्षा हो सके। अधिक मैं क्या कहूँ, तुम्हें पृथ्वी का सम्राट् बना देता हूँ। देव लोक तथा मनुष्य लोक की सम्पूर्ण कमनीय (भोग्य)

वस्तुओं का भोक्ता बना देता हूँ ताकि तुम्हें आधि-व्याधि की पीड़ा न सहनी पड़ी ॥२४॥

**संबंध**—यमराज के द्वारा दिए जाने वाले भोगों के प्रति नचिकेता की अरुचि देखकर यम ने पुनः कहा—

**ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके**
**सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।**
**इमा रामाः सरथाः सतूर्या**
**न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ॥**
**आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व**
**नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥**

**शा० भा०**—ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वास्तान् कामांश्छन्दत इच्छातः प्रार्थयस्व । किं चेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यैर्मर्त्यैरस्मदादिप्रसाद-मन्तरेण । आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः परिचारयस्व आत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयात्मन इत्यर्थः । नचिकेतो मरणं मरणसम्बद्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं मानुप्राक्षीर्मैवं प्रष्टुमर्हसि ॥ २५ ॥

**अन्वय**—ये ये कामाः मर्त्यलोके दुर्लभाः (सन्ति तान्) सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व । सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः । ईदृशाः मनुष्यैः न लम्भनीया हि । मत्प्रत्ताभिः आभिः परिचारयस्व । हे नचिकेताः मरणम् मा अनुप्राक्षीः ॥२५॥

**शब्दार्थ**—कामाः = (काम्यन्ते इति कामाः) भोग । छन्दतः = इच्छानुसार । सतूर्याः = (तूर्यण सह वर्तन्ते इति सतूर्याः) वाद्यविशेष से युक्त । ईदृशा = कहे हुए विशेषणों से युक्त रामा । रामाः = (रमयन्ति पुरुषानिति रामाः) स्वर्ग की अप्स-राओं को । मत्प्रत्ताभिः = मेरे द्वारा दी हुई । आभिः = इन स्त्रियों से । परिचा-

रयस्व = (पादप्रक्षालनादि रूप अपनी) सेवा कराओ। मरणम् = मरण सम्बन्धी प्रश्न (अर्थात् मरने के बाद आत्मा का क्या होता है। अनुप्राक्षीः = पूछो।

**अनुवाद**—(हे नचिकेता) मर्त्यलोक में जो जो भोग दुर्लभ (प्राप्त नहीं हो सकते) हैं (उन) सभी भोगों को स्वेच्छया (मुझसे) माँग लो। (ये देखो तुम्हारे समक्ष सुन्दर) रथ और (कर्ण-प्रिय) वाद्यविशेषों से सुशोभित होने वाली। पुरुषों को आनन्द प्रदान करने वाली) ये रमणियाँ हैं। इसप्रकार की (दुर्लभ) रमणियाँ (मेरी अनुकम्पा के बिना) मनुष्यों को प्राप्त नहीं हैं। मेरे द्वारा दी गई इन रमणियों से तुम अपनी (पाद प्रक्षालनादि रूप) सेवा कराओ। (किन्तु काक-दन्त-परीक्षा के सदृश) मृत्यु सम्बन्धी (मरने के बाद आत्मा की सत्ता रहती या नहीं) प्रश्न को (मुझसे) मत पूछो ॥२५॥

**सम्बन्ध**—यमराज ने शिष्य की परीक्षा के लिये आत्मज्ञान की दुर्ज्ञेयता का प्रतिपादन किया। इसके बाद दुर्लभ भोगों के द्वारा नचिकेता को पथ-विचलित करने का प्रयास किया किन्तु नचिकेता अपने लक्ष्य से टस से मस नहीं हुआ। उसने वैराग्य पूर्ण तर्कों को प्रस्तुत करते हुए भोगैश्वर्य की नश्वरता बतलाकर अपने दृढ़ निश्चय को अभिव्यक्त किया—

**श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्**
**सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।**
**अपि सर्वं जीवितमल्पमेव**
**तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥**

**शा० भा०**—एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य आह— श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति सन्दिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः। किं च मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्ति अपक्षयन्त्यप्सरःप्रभृतयो भोगाः। अनर्थायैवेते धर्मवीर्यप्रजातेजोयशः प्रभृतीनां क्षपयितृत्वात्। यां चापि दीर्घजीविकां त्वां दित्ससि तत्रापि श्रृणु। सर्वं यद्

ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुतास्मदादिदीर्घजीविका अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयः तथा नृत्यगीते च ॥ २६ ॥

**अन्वय**—हे अन्तक ! श्वोभावाः (भोगाः) मर्त्यस्य सर्वेन्द्रियाणां यत् तेजः एतत् जरयन्ति । सर्वम् अपि जीवितम् अल्पम् एव । तव एव वाहाः, नृत्यगीते तव (सन्तु) ॥२६॥

**शब्दार्थ**—श्वोभावाः = (श्वः आगामिदिने भविष्यन्ति न वो इति सन्दिग्धो भावः सत्ता येषां ते । 'कल रहेंगे या नहीं' (ऐसे क्षण् भङ्गुर) । जरयन्ति = क्षीण कर डालते हैं । जीवितम् = आयु । वाहा = रथादि वाहन । अन्तक = (अन्त करोति इति अन्तकः) यमराज ।

**अनुवाद**—हे यमराज ! (जिन भोगों का आप ने वर्णन किया है वे कल रहेगें या नहीं, इसमें संदेह है) ऐसे (क्षणभङ्गुर भोग) मनुष्य के अन्तः करण सहित सभी इन्द्रियों के जो तेज हैं, उसे क्षीण कर डालते हैं । (जिस दीर्घ जीवन को तुम देना चाहते हो वह) सम्पूर्ण जीवन भी तुच्छ है । (अतः ये) आप के रथ आदि वाहन (एवं अप्सराओं के) नृत्य-गीत आप के ही पास रहें । (ये मुझे नहीं चाहिए) ॥२६॥

**व्याख्या**—नचिकेता ने यमराज को अन्तक शब्द से सम्बोधित किया । अन्तक का अर्थ होता है, "सब कुछ नष्ट कर देने वाला ।" यमराज जिन दुर्लभ वस्तुओं को दे रहे हैं, उन्हें वे एक न एक दिन स्वयं नष्ट कर देगें । अतः उनके द्वारा दिए गए भोग श्वभावी हैं अर्थात् क्षणभङ्गुर हैं । धन, यौवन और आयु विद्युत के समान चञ्चल हैं ।[1] इतना ही नहीं ये भोग मरण धर्म वाले मनुष्य की सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को नष्ट कर देते हैं ।[2] रमणियाँ पुरुष के रेत स्वरूप तेज

---

१. "विद्युच्चलं किं धनयौवनायुः" आचार्य शङ्कर ।

२. योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढ़ ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ श्रीमद् भा० पु० ११।८।८

वेदान्त ४६५



को एक क्षण में नष्ट कर देती हैं।[1] पुत्रादि ऐश्वर्य के नष्ट होने पर मनुष्य के मन में क्षोभ उत्पन्न होता है और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं।[2] ये रमणियाँ तेज, धर्म यश और बुद्धि-बल को नष्ट कर देती हैं। इन अनित्य भोगों के संयोग से दुःख ही होता है।[3] आप दीर्घ जीवन देने की बात कर रहे हैं। मनुष्य का दीर्घ जीवन तुच्छ है? ब्रह्मा की आयु जब नष्ट हो जाती है[4] तो अन्य लोगों की आयु की क्या बात है। दीर्घ जीवन भी ब्रह्म-साक्षात्कार के सुख को प्रदान नहीं कर सकता है। इसलिए आप अपने रथादि वाहन तथा अप्सराओं के नृत्य-गीत अपने पास रखें। ये नृत्य-गीत मृत्यु के द्वार हैं।[5] मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है ॥२६॥

**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो**
**लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।**
**जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं**
**वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥**

**शा० भा०**—किं च न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। न हि लोके वित्तलाभः कस्याचित्तृप्तिकरो दृष्टः। यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे प्राप्स्यामह इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम्। जीवितमपि तथैव। जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वम् ईशिष्यसीशिष्यसे

---

१. "नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः" श्रीमद् भा० पु० ११।८।१४
२. यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीर ॥
श्रीमद् भा० पु० ९।७।४५।
३. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ गी० ५।२२
४. "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।" गी० ८।१६
५. नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम्।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यश्रृङ्गोमृगीसुतः ॥ श्रीमद् भा० पु० ११।८।१।

प्रभुस्याः कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत् । वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम् ।।२७।।

**अन्वय**—मनुष्यः वित्तेन न तर्पणीयः । चेत् त्वा अद्राक्ष्म, वित्तं लप्स्यामसे । यावत् त्वम् ईशिष्यसि (तावत्) जीविष्यामः मे वरस्तु स एव वरणीयः ।।२७।।

**शब्दार्थ**—तर्पणीयः=तृप्त करने के योग्य । अद्राक्ष्म=दर्शन पा लिया । लप्स्यामहे=पा लेंगे । ईशिष्यसि=शासन करते रहेंगे । वरणीयः=माँगने के योग्य ।

**अनुवाद**—(नचिकेता ने कहा) मनुष्य, वित्त (अर्थात् प्रभूत धन या भोग्य-पदार्थों) से तृप्त नहीं किया जा सकता है । यदि आपको (अपनी आँखों से) देख लिया है तो धन प्राप्त कर लेंगे । जब तक आप (प्राणियों पर) शासन करेंगे (तब तक हम) जीवित रहेगे (परन्तु) मेरा प्रार्थनीय वर वही (आत्मविज्ञान) ही है ।।२७।।

**व्याख्या**—नचिकेता ने धन की अनर्थों के विषय में बताया कि कोई भी मनुष्य प्रभूत धन के भोग से तृप्त नहीं हो सकता है । धन का भोग, कामना की अग्नि के लिए घृत का काम करता है । जितना भोग किया जाता है, उतनी ही कामना की अग्नि बढ़ती जाती है ।[२] इसलिए तृप्ति का साधन वित्त का भोग नहीं है ।[3] मुझे वित्त की आवश्यकता नहीं है । यह प्रार्थनीय वस्तु नहीं है ।

---

१. स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ।
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्।। श्रीमद्भा० पु० ११।२३।१८-१९

२. आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य । वि० पु० ४।२।११९ ।

३. भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसां । व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। गी० २।४४ ।

× × ×

आपके दर्शन से अक्षय सम्पत्ति की प्राप्ति हो जायेगी। साथ ही साथ चिरजीवन भी प्राप्त हो जायेगा। आप ऐसे महात्माओं के दर्शन से कौन सी वस्तु नहीं प्राप्त हो जाती है। आप हमारे गुरु हैं। शिष्य पर गुरु की अनुकम्पा स्वाभाविक है। अतः जब तक मृत्यु के पद पर आपका शासन है, तब तक मुझे मरने का भय नहीं रहेगा। भला अनुकम्पा करने वाले गुरु से शिष्य कभी भयभीत होता है। वरन् वह तो सर्वदा प्रसन्न रहता है। इसलिए जो नश्वर वस्तुएँ धन और दीर्घ जीवन आपके दर्शन मात्र से मिलने के योग्य हैं, उसके लिए वरदान माँगने की क्या आवश्यकता है? आप ऐसे महान् व्यक्ति से दुर्लभ वस्तु (आत्मज्ञान) की याचना करता हूं; क्योंकि यह वस्तु अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी। अतः मेरा प्रार्थनीय वर आत्मज्ञान है। इसे कृपा कर अवश्य प्रदान करें ॥२७॥

**सम्बन्ध**—भोगों की तुच्छता का वर्णन करने के पश्चात् अपने वर के महत्त्व का प्रतिपादन करता हुआ कहता है—

**अजीर्यताममृतानामुपेत्य**
**जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।**
**अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदान्**
**अतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥**

**शा० भा०**—यतश्च—अजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताममृतानां सकाशमुपेत्योपगम्यात्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन् उपलभमानः स्वयं तु जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान् क्वधःस्थः। कुः पृथिवी अधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः सन् कथमेवमविवेकिभिः प्रार्थनीय पुत्रवित्तहिरण्याद्यस्थिरं वृणीते। क्व तदास्थ इति वा

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयस्वाभिवर्धते।
धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यतः। वि० पु० ४।१०–२३।२७।

पाठान्तरम् । अस्मिन्पक्षे चाक्षरयोजना । तेषु पुत्रादिष्वास्था आस्थितिः तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थः । ततोऽधिकतरं पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषुः क्व तदास्थो भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्याद् इत्यर्थः । सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकः तस्मान्न पुत्रवित्तादिलोभैः प्रलोभ्योऽहम् । किं चाप्सरः-प्रमुखान् वर्णरतिप्रमोदाननवस्थितरूपतयाभिध्यायन्निरूपयन् यथावत् अतिदीर्घे जीविते को विवेकी रमेत ॥ २८ ॥

**अन्वय**—जीर्यन् मर्त्यः (अस्ति इति) प्रजानन् क्वधःस्थः कः अजीर्यताम् अमृतानाम् उपेत्य वर्णरतिप्रमोदान् अभिध्याय अति दीर्घे जीविते रमेत ॥२८॥

**शब्दार्थः**—प्रजानन्=तत्व को भली भाँति जानता हुआ । जीर्यन्=जीर्ण होने वाला । क्वधः स्थ=(कु + अधः + स्थ) कु=पृथ्वी, यह पृथ्वी अन्तरिक्ष से अधः नीचे है, उस पृथ्वी पर रहने वाला) पृथ्वी लोक का निवासी । अजीर्यताम् = वृद्धावस्था से रहित । अमृतानाम्=चिरकाल तक रहने वाले देवताओं का । उपेत्य=सन्निधि प्राप्त कर । वर्णरतिप्रमोदान्=वर्ण—दिव्य रमणियों का सौन्दर्य, रति—उनके साथ क्रीड़ा, प्रमोद=सौन्दर्य और रति से जन्य सुखविशेषों को । अभिध्यानम्=बार-बार चिन्तन करता हुआ ।

**अनुवाद**—(हे यमराज ! यह मनुष्य) जीर्ण होने वाला (अर्थात् जरावान्) (और) मरणधर्मा (है । इस तत्त्व को) भली भाँति समझने वाला कौन, मनुष्य लोक का निवासी (है जो) जराग्रस्त न होने वाले चिरस्थायी देवताओं (अर्थात् आप ऐसे महात्माओं) को सन्निधि पाकर (दिव्य स्त्रियों के) सौन्दर्य (एवं उनके साथ की जाने वाली) क्रीड़ा (से जन्य) आमोद = प्रमोदों (सुख विशेषों) को बार-बार चिन्तन करता हुआ (अर्थात् सुखों को अनित्य मानता हुआ भी) दीर्घ जीवन में रमण करेगा ॥२८॥

**व्याख्या**—मनुष्य जरा के अनल में तिल-तिल जलकर राख होने वाला है । एक न एक दिन निश्चय ही मृत्यु का ग्रास बनने वाला है । इस तत्त्व को जिसने अच्छी प्रकार समझ लिया है, वह विवेकी कभी भी तुच्छ विनाशी सुखों के लिए अपने जीवन को नष्ट नहीं करेगा । अविवेकी व्यक्ति भले ही भोगों के सर्पगृह में

रहने की कामना करे किन्तु वह विवेकी, जिसने यमराज ऐसे अमर रहने वाले महात्माओं की सत्सङ्गति पाकर, यह जानता हुआ,—"दिव्य रमणियों का सौन्दर्य, उनके साथ की गई क्रीड़ाएँ तथा उनसे मिलने वाले आमोद-प्रमोद क्षण-भङ्गुर है; सर्वस्व नष्ट करने वाले हैं और क्षण में पतन के गर्त में ले जाने वाले हैं।"—दीर्घ-जीवन की कामना कभी नहीं करेगा। अतः मैं आप से केवल आत्म-ज्ञान जानना चाहता हूँ। आप हमारे उसी वर को प्रदान करें। आप ऐसे अद्वितीय देव के पास आकर तुच्छ वस्तु की याचना नहीं कर सकता।

**यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो**
**यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।**
**योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो**
**नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥**

**शा० भा०**—अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितम्—यस्मिन्प्रेत इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्ति अस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो साम्पराये परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्ते आत्मनो निर्णय-विज्ञानं यत्तद् ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम्। किं बहुना योऽयं प्रकृत आत्म-विषयो वरो गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टः। तस्माद्वरादन्यम-विवेकीभिः प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसापीति श्रुतेर्वचनमिति ॥२९॥

**अन्वय**—हे मृत्यो! यस्मिन् साम्पराये (देवा अपि) इदम् (अस्ति नास्ति वा) विचिकित्सन्ति। यत् (आत्मविज्ञानं) महति (मोक्षार्थे) तत् नः ब्रूहि। गूढम् अनु-प्रविष्टः यः अयं वरः तस्मात् अन्यं (वरं) नचिकेता न वृणीते ॥२९॥

**शब्दार्थ**—साम्पराये = (सम्पर ईयत इति सम्परायः = परलोकः तत्सम्बन्धी साम्परायः) परलोक सम्बन्धी। इदम् = आत्मा है या नहीं। यत् = आत्म तत्त्व का निर्णय। गूढम् अनुप्रविष्टः = गोप्यता को प्राप्त।

**अनुवाद**—हे यमराज! जिस परलोक सम्बन्धी (आत्मज्ञान के विषय में देवता भी यह (आत्मा है या नहीं संदेह) करते हैं। (उस आत्म तत्त्व का, आप

की दृष्टि में) महान् (प्रयोजन स्वरूप मोक्ष के लिए) जो निर्णय (है) उसे हमें बताइए। अत्यन्त गोप्यता को प्राप्त जो यह वर है, इससे (भिन्न) दूसरा वर नचिकेता (आप से) नही माँगता है ॥२९॥

**व्याख्या**—जिस आत्म तत्त्व की सत्ता में देवता और मनुष्य संदेह करते हैं उस परलोक सम्बन्धी आत्म विषयक ज्ञान का महत्त्व है क्योकि यही मोक्ष का महान् प्रयोजन है। विना आत्म-तत्त्व को जाने हुए मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं हैं। इस आत्म-तत्त्व के विषय में आपका अनुभव हमें स्वीकार्य है। आप ने अवश्य ही इस आतम तत्व का अनुभव किया है। इसलिए आप अपने निर्णय को हमसे बतावें। मैं इस वर के अतिरिक्त दूसरे वर की याचना नहीं कर सकता। यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

प्रथम अध्याय में प्रथम वल्ली समाप्त।

# द्वितीया वल्ली

**सम्बन्ध**—जब यमराज ने प्रकार समझ लिया कि नचिकेता का मन विषय-जाल में फँसने वाला नहीं है, तब उसने उसे ब्रह्मविद्या का अधिकारी समझकर मोक्ष और अभ्युदय के साधन, विद्या और अविद्या के भेद का प्रति पादन करते हुए कहा—

**अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-**
**स्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः ।**
**तयोः श्रेय आददानस्य साधु**
**भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥**

**शा० भा०**—परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याह-अन्यत् पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं तथान्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि । ते प्रेयः श्रेयसी उभे नानार्थें भिन्न—प्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः । श्रेयः प्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते । अतः श्रेयः प्रेयः प्रयोजनकर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वःपुरुषः । ते यद्यप्येकैकपुरुषार्थसम्बन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वद्विरुद्धे इत्यन्यतरापरित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात् तयोर्हित्वाविद्यारूपं प्रेयः श्रेयः एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति । यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्येतऽस्मादर्थात् पुरुषार्थात् पारमार्थिकात् प्रयोजान्नित्यात् प्रच्यवत इत्यर्थः । कोऽसौ य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त इत्येतत् ॥१॥

**अन्वय**—श्रेयः ! अन्यत् उत प्रेयः अन्यत् एव । ते नानार्थें उभे पुरुषं सिनीतः । तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति । यः प्रेयो वृणीते अर्थात् हीयते ॥१॥

**शब्दार्थ**—श्रेय = प्रशस्यतर अर्थात् मोक्ष का साधन (विद्या) । प्रेयः = प्रियतर अर्थात् सांसारिक अभ्युदय का साधन (अविद्या या कर्म) । उत = और ।

नानार्थे = भिन्न-भिन्न फल प्रदान करने वाले । सिनीतः = बाँधते हैं । आददानस्य = ग्रहण करने वालों का । साधु = कल्याण । अर्थात् = यथार्थ लाभ अर्थात् पारमार्थिक प्रयोजन मोक्ष से । हीयते = भ्रष्ट हो जाता है ।

**अनुवाद**—(यमराज ने नचिकेता से कहा) श्रेय (मोक्ष का साधन विद्या) अन्य है तथा प्रेय (सांसारिक अभ्युदय का साधन अविद्या या कर्म) अन्य ही है। भिन्न-भिन्न फल प्रदान करने वाले वे दोनों (साधन विद्या और कर्म) पुरुष को बाँधते (अर्थात् अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते) हैं । उन दोनों में से श्रेय का ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है और जो प्रेय का वरण करता है, वह पुरुषार्थ (अर्थात् परम प्रयोजन मोक्ष से) वञ्चित रह जाता है ।

**व्याख्या**—मनुष्य का शरीर अत्यन्त दुर्लभ है ।[1] इस शरीर से भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति हो सकती है । मोक्ष का साधन विद्या है । उत्तम अधिकारी सर्वदा अपने गुरु से श्रेय वस्तु की याचना करते हैं ।[2] वस्तुतः मोक्ष सर्वदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पा जाना है । यही श्रेय है ।[3] इसे प्राप्त करने के लिए साधना की आवश्यकता पड़ती है ।

प्रेय, सांसारिक अभ्युदय और स्वर्ग-प्राप्ति साधन कर्म या अविद्या है। वनिता, पुत्र, धन, यश और स्वर्ग लोक में होने वाले सुख नश्वर हैं । यज्ञादि कर्म के द्वारा स्वर्ग की और कर्मों के द्वारा सांसारिक सुखों की प्राप्ति होती है ।

ये दोनों मार्ग पुरुष को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं । वस्तुतः संसार के अधिकांश मानव प्रेय मार्ग की वासन्ती सुषमा के लोभी बने रहते हैं । प्रेय मार्ग सद्यः आनन्द प्रदान करने वाला है, चाहे इसका परिणाम भयावह क्यों न हो । जो व्यक्ति श्रेय-मार्ग पर चलता है, उसी का कल्याण होता है अर्थात् जन्म-मरण के अनल से सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है । जो व्यक्ति भौतिक

---

१. "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारम्"
श्री मद् भा० पु० ११।२०।१७

२. "यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे" गीता २।७

३. "श्रेयस्तस्यैव संयोगः श्रेयोः यः परमात्मन" वि० पु० २।१४।१४

सुखों में भूलकर परमार्थ मोक्ष से विमुख रहता है, वह मोक्ष रूप फल को न पाकर कर्मजन्य अनित्य फल के दलदल में फँसा हुआ कष्ट प्राप्त करता रहता है। इसलिए विवेक शील पुरुष को न स्वर्ग की कामना करनी चाहिए, न मनुष्य शरीर के प्रति मोह ही करना चाहिए।[1]

नेमं लोकं च कांक्षेत देहवशात् प्रमाद्यति ॥ श्री मद् भा० पु० ११।२०।१३

नचिकेता श्रेय मार्ग का पथिक है, क्योंकि उसने इस लोक और स्वर्ग को ठुकरा दिया है।

**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः**
**तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।**
**श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते**
**प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥२॥**

**शा० भा०**—यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवादत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—सत्यं स्वायत्ते तथापि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यमेतं पुरुषमा इतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च। अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयःप्रेयःपदार्थौ सम्परीत्य सम्यक् परिगम्य मनसालोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान्। विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणोते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात्। कोऽसौ ? धीरः। यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः स विवेकासामर्थ्याद्योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते ॥ २ ॥

**अन्वय**—श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यम् एतः। धीरः तौ सम्परीत्य विविनक्ति। धीरः प्रेयसः हि अभिवृणीते। मन्दः योगक्षेमात् प्रेयो वृणीते ॥२॥

**शब्दार्थ**—एतः = (कर्तव्यता के रूप में) आते हैं। सम्परीत्य = भलीभाँति विचार कर। विविनक्ति = पृथक्-पृथक् समझ लेते हैं। धीरः = श्रेष्ठ बुद्धि

---

१. न नरः स्वर्गतिं कांक्षेन्नारकीं वा विचक्षणः।

वाला उत्तम अधिकारी। प्रेयसः = अभ्युदय के साधन कर्म की अपेक्षा। अभिवृणीते = श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है। योग = अप्राप्ति की प्राप्ति। क्षेम = प्राप्त का संरक्षण।

**अनुवाद**—श्रेय और प्रेय (अर्थात् विद्या और कर्म ये दोनों कर्तव्य के रूप में) मनुष्य के सामने आते हैं। धीर (उत्तम अधिकारी) उन दोनों (श्रेय और प्रेय के फल) के स्वरूप पर भलीँति विचार कर (उन दोनों को) पृथक्-पृथक् समझ लेता है (कि किसका सेवन उत्तम है)। विवेकी प्रेय (अभ्युदन के साधन कर्म) की अपेक्षा श्रेय का ही वरण करता है। (इसके विपरीत) मन्द बुद्धिवाला मनुष्य योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु के संरक्षण) की इच्छा से (भोगों के साधन रूप) प्रेय का वरण करता है ॥२॥

**व्याख्या**—संसार के अधिकांश मानव सांसारिक सुखों की अभिलाषा करते रहते हैं। भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए दिन-रात एक किए रहते हैं। उन्हें पूर्व जन्म पर विश्वास नहीं रहता है। इसलिए श्रेय-मार्ग की कभी कल्पना नहीं करते। वे तो पशुवत् भोग को ही जीवन का आदर्श समझते हैं। विचार-शील मनुष्य के समक्ष श्रेय और प्रेय दोनों साधन सज-धज कर उपस्थित होते हैं। वस्तुतः सभी मनुष्यों चाहे—सात्त्विक हों, या राजसी हों या तामसी हों—के समक्ष श्रेय और प्रेय उपस्थित होते हैं। अर्थात् जब त्रिगुणात्मक मन में सात्त्विक भाव का उदय होता है, तब श्रेय मार्ग की रूप-रेखा प्रस्तुत हो जाती है जब रजोगुण उद्भूत होता है तब विषय-वासना की प्रवृत्ति अपने सौन्दर्य से उसे मोह लेती है। धीर अर्थात् उत्तम अधिकारी भलीभाँति दोनों के फलों पर विचार करता है। प्रेय-मार्ग प्रारम्भ में अमृत के समान प्रतीत होता है किन्तु इसका परिणाम विष के समान होता है।[1] श्रेय-मार्ग इसके विपरीत स्वभाव वाला होता है।[2]

१. विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्। गी० १८।३८।

२. यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ गी० १८।३७।

अतः धीर प्रेय मार्ग की अपेक्षा श्रेय-मार्ग का चयन करता है। वह जानता है कि सांसारिक सुख अनित्य हैं। मन्द बुद्धि वाले व्यक्ति योग (अर्थात् अप्राप्त रमणी पुत्र, धनादि की प्राप्ति) और (क्षेम-प्राप्त धनादि की रक्षा) के लिए प्रेय मार्ग—सांसारिक अभ्युदय के साधनों-का वरण करते हैं। वे जानते रहते हैं कि मनोरथ की कभी पूर्ति नहीं होती, और प्राप्त वस्तुओं की सुरक्षा नहीं हो पाती, फिर भी मोह वश उसी प्रेय के दल-दल में फँसे रहते हैं। यमराज के कहने का आशय यह है कि नचिकेता धीर है। इसलिये इसे आत्म-तत्त्व का ज्ञान देना चाहिए।

**संबंध**—यमराज साधारण मनुष्यों से उसकी विशेषता बताते हुए उसके वैराग्य की प्रशंसा करते हैं—

**स त्वं प्रियान्प्रियरूपाँश्च कामा—**
**नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।**
**नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो**
**यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥**

**शा० भा०**—स त्वं पुनः पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान् पुत्रादीन् प्रियरूपांश्चाप्सरः प्रभृतिलक्षणान् कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषाम् अनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचिकेतोऽत्यस्राक्षीरतिसृष्टवान् परित्यक्तवानस्यहो बुद्धिमता तव। नैतामवाप्तवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम्। यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्याः ॥ ३ ॥

**अन्वय**—(हे नचिकेतः !) स त्वम् प्रियान् प्रियरूपांश्च कामान् अभिध्यायन् अत्यस्राक्षीः। एताम् वित्त-मयीम् सृङ्काम् न अवाप्तः यस्याम् बहवः मनुष्याः मज्जन्ति ॥३॥

**शब्दार्थ**—सः = श्रेयमार्ग-ग्राही। प्रियान् = प्रीतिकर विषयों (पुत्रादि) को। प्रियरूपान् = अत्यन्त सुन्दर रूप वाली अप्सरादि को। अत्यस्राक्षी = छोड़ दिया। वित्तमयीम् सृङ्काम् = सम्पत्ति रूपी शृङ्खला को। अवाप्तः = प्राप्त हुए।

**अनुवाद**—हे नचिकेता ! तुम (ऐसे) श्रेयमार्गग्राही (निस्पृह शिष्य हो कि तुमने) प्रिय लगने वाले (पुत्र धन आदि) और अत्यन्त सुन्दर रूप वाले (अप्सरा आदि) (इस लोक और पर लोक के सम्पूर्ण) कामनाओं को भलीभाँति (अनित्य) समझ कर छोड़ दिया। (तुम्हारी बुद्धिमानी प्रशस्य है क्योंकि तुम) (मूढ़ जन से सेवित) इस सम्पत्ति रूपी श्रृङ्खला (मार्ग) को नहीं प्राप्त हुए (अर्थात् सम्पत्ति के जाल में नहीं फँसे हो) जिसमें अनेक अज्ञ जन (फँसकर जन्म-जन्मान्तर तक) डूब जाते हैं (अर्थात् कष्ट पाते रहते हैं) ॥३॥

**व्याख्या**—पुत्र का मोह विकट होता है। ज्ञानी व्यक्ति भी पुत्र-मोह का परित्याग नहीं कर पाते।[१] मुनि भी पुत्रादि बान्धव जन के स्नेह को नहीं छोड़ पाते हैं[२] तो सासांरिक व्यक्ति पुत्रादि प्रिय पदार्थ का कैसे परित्याग कर सकेगा। दिव्य अप्सराओं का रूप विश्वामित्र ऐसे ऋषियों के पतन का कारण बना। इसलिए इस लोक के और स्वर्गलोक के भोगों का परित्याग करना अत्यन्त कठिन है। मैं तुम्हें सभी दुर्लभ योग्य वस्तुओं को दे रहा था किन्तु तुम इतने निस्पृह हो कि तुमने इन अनित्य भोगों को अनन्त दुःख का कारण समझकर ठुकरा दिया।

जिस तुच्छ सांसारिक मार्ग का अनुसरण कर संसार के असंख्य प्राणी अपनी विनाश करते रहते[3] हैं, उसे तुमने छोड़ दिया। उसके प्रति तुम्हारे मन में तनिक प्रेम नहीं है। इसलिए तुम सचमुच आत्मज्ञान के अधिकारी हो ॥३॥

**संबंध**--विद्या और अविद्या के स्वरूप और फल के विरोध को वता रहा है—

---

१. यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव। पुत्रेति तन्मयतया ॥ श्रीमद् भा० पु० १।२।२।

२. "स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः।" श्रीमद् भा० पु० १०।४६।५

३. कलत्रमित्रपुत्रार्थगृहक्षेत्रधनादिकैः।
क्रियते न तथा भूरि सुखं पुसां यथाऽसुखम् ॥ वि० पु० ६।५।५६

**दूरमेते विपरीते विषूची**
**अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।**
**विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये**
**न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥**

**शा० भा०**—तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो बृणीत इत्युक्तम् तत्कस्माद्यतः—दूरं दूरेण महतान्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वात्तमः प्रकाशाविव। विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत्। के त इत्युच्यते या चाविद्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञातावगता पण्डितैः। तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये। कस्माद्यस्मादविद्वद्बुद्धिप्रलोभिनः कामा अप्सरः प्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवाञ्छासम्पादनेन। अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्य इत्यभिप्रायः॥४॥

**अन्वय**—या अविद्या (इति) विद्या इति च ज्ञाता। एते दूरं विपरीते विषूची। (अहं त्वां) नचिकेतसं विद्याभीप्सिनं मन्ये। बहवः कामाः त्वा न अलोलुपन्त ॥४॥

**शब्दार्थ**—विपरीते = परस्पर अत्यन्त विपरीत (विवेक और अविवेक रूप होने के कारण प्रकाश और तम रूप)। विषूची = (संसार और मोक्ष-हेतु होने के कारण) भिन्न-भिन्न फल देने वाली। विद्याभीप्सिनं = विद्या का अभिलाषी। अलोलुपन्त = लुभाया।

**अनुवाद**—जो (कर्मकाण्ड रूप में प्रसिद्ध अभ्युदय की साधनभूता) अविद्या और (मोक्ष का साधनभूत) विद्या विख्यात हैं, ये दोनों (स्वरूपतः परस्पर) अत्यंत विपरीत और भिन्न-भिन्न फल (अविद्या लौकिक सुखों को और विद्या मोक्ष) को प्रदान करने वाली हैं। (मैं तुम) नचिकेता को (विद्या और अविद्या के मध्य में) विद्या का अभिलाषी (ज्ञानार्थी) मानता हूँ (क्योंकि अज्ञों द्वारा प्रार्थित अप्सरादि दुर्लभ) अनेक भोग तुमको नहीं लुभा पाये (अर्थात् तुम्हें श्रेय-मार्ग से वियुक्त नहीं कर पाये) ॥४॥

**व्याख्या**—विद्या और अविद्या दो मार्ग शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित हैं। दोनों के स्वरूप और फल में भेद है। अविद्या कर्मरूप है और विद्या ज्ञानरूप। अविद्या का फल सांसारिक और स्वर्गिक सुख है। विद्या मोक्ष देती है।[1] श्रेय-मार्ग का पथिक भोगों से मुख मोड़कर विद्या का वरण करता है। अज्ञानी अविद्या की उपासना में रत रहते हैं।

यमराज कह रहे हैं कि नचिकेता विद्या का अभिलाषी है, क्योंकि उसने प्रेय-मार्ग के सुखों की तिलाञ्जलि दे दी है। अतः वह उत्तम अधिकारी है ॥४॥

**संबंध**—सकामी अविद्याग्रस्त की निन्दा करते हुए यमराज कह रहे हैं—

**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः**
**स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।**
**दन्द्रन्यमाणाः परियन्ति मूढा**
**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥**[2]

**शा० भा०**—ये तु संसारभाजनाः—अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः। स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रन्यमाणा अत्यर्थं कुटिलामनेकरूपां गतिम् इच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ॥ ५ ॥

**अन्वय**—अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः, स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः दन्द्रम्यमाणाः मूढाः, (तथा) परियन्ति यथा अन्धेन नीयमानाः अन्धाः (अनर्थ प्राप्नुवन्ति) ॥ ५ ॥

**शब्दार्थ**—अन्तरे = भीतर। मूढाः = (भोग की इच्छा रखने वाला) अवि-

---

१. "विद्ययामृतमश्नुते" ईशा० उप० ११।
२. यह मंत्र मुण्डकोपनिषद १-२-८ में आया है।

वेकी । दन्द्रम्यमाणाः = अनेक कुटिल मार्ग पर चलते हुए (अर्थात् नाना योनियों में चारों ओर भटकते हुए) । परियन्ति = अनर्थ को प्राप्त होते हैं ।

**अनुवाद**—अविद्या के भीतर रहने वाले (अर्थात् अविद्या और उसके कार्य निरूपित अभिमान से युक्त) अपने आप को धीर (अर्थात् लौकिक ज्ञान से युक्त) और शास्त्र-प्रवीण समझने वाले (सांसारिक भोग की इच्छा रखने वाले) मूढ़ जन अनेक प्रकार के कुटिल मार्ग पर चलते हुए (अर्थात् बुरे कर्मों के कारण अनेक योनियों में भटकते हुए अथवा सांसारिक भोगों को प्राप्त करने के लिए कुमार्ग पर चलते हुए) (ठीक उसी प्रकार) कष्ट भोगते रहते हैं, जैसे अन्धों के द्वारा ले जाये जाने वाले अन्धे (गन्तव्य मार्ग पर न पहुँचकर कण्टकादि पूर्ण पथ में कष्ट भोगते रहते हैं) ॥५॥

**व्याख्या**—अविद्या की विचित्र महिमा होती है । अविद्या से ग्रस्त व्यक्ति यद्यपि अविवेकी होता है किन्तु वह अपने को धीर और शास्त्र-मर्मज्ञ समझता है । अपने ज्ञानादि को ही श्रेष्ठ समझकर अच्छे शास्त्रों की अवहेलना करता है । भोग, देह आदि में अभिमान रखने के कारण वह मूर्ख[1] कहलाता है । इस प्रकार का मूर्ख अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के बुरे मार्ग[2] पर चलता हुआ कष्ट पाता रहता है । अथवा भोग-बुद्धि और अहङ्कार के कारण अपने अशुभ योनियों में भटकता हुआ कष्ट प्राप्त करता रहता है ।[3] वस्तुतः बुद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण वह अन्धे की भाँति ठोकर खाता रहता है । जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे को यदि मार्ग बतावे तो अन्धा गन्तव्य मार्ग पर न पहुँच कर बीच में ही अनेक प्रकार के कष्टों को भोगता रहता है । अन्धे की भाँति कर्म-

---

१. "मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः" श्रीमद्भ भा० पु० ११।१९।४२

२. आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ गी० १६।१२

३. आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ गी० १६।२०

मार्ग के पथिक धूम-मार्ग[1] से गमन करते हुए संसार के चक्र में फँसकर निरन्तर कष्ट पाते रहते हैं ।[2]

इसलिए विवेकी पुरुष को विद्या को स्वीकार कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए ॥ ५ ॥

**न साम्परायः प्रतिभाति बालं**
**प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम् ।**
**अयं लोको नास्ति पर इति मानी**
**पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥**

**शा० भा०**--अतएव मूढत्वात्--न साम्परायः प्रतिभाति । सम्पर ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः । स च बालमविवेकिनं प्रति न प्रतिभाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् ।

प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाच्छन्नं सन्तम् । अयमेव लोको योऽयं दृश्यमानः स्त्र्यन्नपानादिविशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो लोकं इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वशं मदधीनतामापद्यते मे मृत्योर्मम । जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः । प्रायेण ह्येवंविध एव लोकः ॥ ६ ॥

**अन्वय**—वित्तमोहेन मूढम् प्रमाद्यन्तम् बालम् साम्परायः न प्रतिभाति । अयं लोकः (अस्ति); परः न अस्ति इति मानी पुनः पुनः मे वशमापद्यते ॥ ६ ॥

**शब्दार्थ**—प्रमाद्यन्तं = प्रमाद करने वाले । साम्पराय := (सम्परईयते इति

---

१. य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति ।
छा० उ० ५।१०।३

२. यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ।
मु० उ० १।२।९

सम्पराय ) अर्थात् सम्पराय = परलोक और उस परलोक की प्राप्ति के हेतु कर्म प्रणव-उपासनादि शास्त्रीय साधनविशेष ही साम्पराय है। बालं = विवेक-रहित। न प्रतिभाति = सूझता नहीं। आपद्यते = आता है।

**अनुवाद**—सम्पत्ति के मोह से मोहित प्रमाद करने वाले अविवेकी पुरुष को परलोक-प्राप्ति के हेतुभूत शास्त्रीय साधन नहीं दिखाई देते। यह (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला) लोक (ही सत्य है इसके अतिरिक्त) पर (लोक अर्थात् स्वर्ग और नरक आदि लोक कुछ भी) नहीं है--इस प्रकार मानने वाला अभिमानी (मनुष्य) बार-बार (जन्म लेकर) मेरे वश को प्राप्त होता है (अर्थात् मृत्यु-मुख में जाता रहता है) ॥ ६ ॥

**व्याख्या**--यमराज ने पहले यज्ञादि कर्म के उपासक की निन्दा की। यज्ञादि कर्म के उपासक पुण्य के क्षीण होने पर मृत्यु-मुख के ग्रास बनते हैं किन्तु शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म करने वाले व्यक्ति बार-बार जन्म ग्रहण कर मरते रहते हैं। उककी दृष्टि सम्पत्ति पुत्र वनितादि के मोह में अन्धी हो जाती है और वे भोगा-सक्त होकर प्रमाद वश शास्त्रप्रतिकूल मनमाना आचरण करने लगते हैं। इस प्रकार के अविवेकी पुरुष शास्त्र-प्रतिपादित मोक्ष के उपाय को स्वप्न में भी नहीं देख पाते हैं। वे प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले वनिता-पुत्रादि-सुख प्रदान करने वाले मर्त्य लोक को ही सत्य मानते रहते हैं।[1] इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि में न स्वर्ग है, न नरक आदि लोक। इसलिए वे इच्छानुसार आचरण करते रहते हैं। इस प्रकार के अविवेकी मोह-ग्रस्त होकर कामासक्त रहते हैं और बार-बार नरक को प्राप्त करते रहते हैं।[2] उन्हें जन्म-मृत्यु से कभी मुक्ति नहीं मिल पाती ॥६॥

**सम्बन्ध**--'अविद्या-ग्रस्त' की निन्दा कर आत्मतत्त्व की दुर्ज्ञेयता का प्रति-पादन किया जा रहा है--

---

१. असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ॥ गी० १६।८।

२. अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ गी० १६।१६।

**श्रवणायपि बहुभिर्यो न लभ्यः**
**शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।**
**आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-**
**श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥**

**शा० भा०**—यस्तु श्रेयोऽर्थी सहस्रेषु कश्चिदेवात्मविद्भवति त्वद्विधो यस्मात्—श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुम् अपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः; शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विदन्त्यभागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः । किं चास्य वक्तापि आश्चर्योऽद्भुतवदेवानेकेषु कश्चिद् एव भवति । तथा श्रुत्वाप्यस्य आत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति । यस्माद् आश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेन आचार्येणानुशिष्टः सन् ॥७॥

**अन्वय**—यः बहुभिः श्रवणाय अपि न लभ्यः, यम् बहवः शृण्वन्तोऽपि न विद्युः । अस्य वक्ता आश्चर्यः, लब्धा आश्चर्यः, कुशलानुशिष्टः ज्ञाता च आश्चर्यः ॥७॥

**शब्दार्थ**—यः = जो ( आत्म तत्त्व ) । शृण्वन्तः = सुनकर भी । पुरुष के द्वारा शिक्षा प्राप्त किया हुआ । ज्ञाता=आत्म तत्त्व को जानने वाला । आश्चर्य= परम दुर्लभ है ॥ ७ ॥

**अनुवाद**—जो (आत्मतत्त्व) बहुतों को सुनने के लिए भी प्राप्य नहीं है; जिसको, सुनते हुए भी बहुत से लोग नहीं समझते । (श्रोता ही दुर्लभ नहीं है, वक्ता भी दुर्लभ है क्योंकि) उस (आत्मतत्त्व) का वक्ता अर्थात् उपदेष्टा भी आश्चर्यमय (अति दुर्लभ है) । (उसे) प्राप्त करने वाला ही आश्चर्य (अर्थात् कोई विरल ही होता) है । इसको ग्रहण करने वाला भी अत्यन्त दुर्लभ है, तथा कुशल (अर्थात् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले) ज्ञानी पुरुष के द्वारा उपदिष्ट (आत्मतत्त्व) को जानने वाला भी आश्चर्यमय अर्थात् अति दुर्लभ है ॥७॥

**व्याख्या**—उपनिषद् का आदेश है कि आत्मा का श्रवण, मनन और निदि-

ध्यासन करना चाहिए।[१] मनुष्य आत्मा को जानकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है किन्तु विषय-वासना में इतना आसक्त रहता है कि आमतत्त्व के विषय में सुनना नहीं चाहता। उसे इस तत्त्व के श्रवण का अवसर ही नहीं मिलता। वस्तुतः आत्मतत्त्व—श्रवण में भक्ति तभी होती है जब अनेक जन्मों का पुण्य उदय होता है।[२]

इसलिए जिनके पुण्य उदय नहीं होते, उन्हें आत्म-तत्त्व विषयक चर्चा सुनने को नहीं मिलती है। अथवा आत्मतत्त्व के विषय में वहुत पुण्यवान जन सुनना चाहते हैं किन्तु उन्हें सुनाने वाला ही नहीं मिलता। यह आत्मतत्त्व विषयक ज्ञान इतना कठिन है कि इसको सुनाने वाला नहीं मिलता है, इसलिए जिज्ञासी रहने पर भी यह तत्त्व बहुतों को सुनने को नहीं मिलता है। वहुत से लोगों को सुनने को मिल जाता है किन्तु सुनकर भी इस आत्मतत्त्व को समझ नहीं पाते। इसके वक्ता इतने कुशल नहीं होते कि श्रोता को समझा सकें अथवा श्रोता इतना अकुशल होता है कि आत्मतत्त्व को सुनकर भी उसके रहस्य को समझ नहीं पाता है।

वस्तुतः इस आत्मतत्त्व का उपदेष्टा आश्चर्यमय है अर्थात् दुर्लभ है। आत्म-तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि इसके रहस्य को जानने वाले विरले ही लोग हैं। इसलिए वक्ता आश्चर्य का विषय है। अतः आत्मतत्त्व को जानने के लिए सद् गुरु की अन्वेषण करना चाहिए। जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, उसी श्रेत्रिय आश्चर्यमय गुरु के पास जाना चाहिए।[3] इस आत्म तत्त्व को प्राप्त करने वाला भी सफल जीवन वाला व्यक्ति होता है। क्योंकि हजारों मनुष्य इसे प्राप्त करने

---

१. आत्मा वा अरे दष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। वृ० पु०४।५।६
२. नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते। श्रीमद् भा० पु० २।१९
३. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रमनिष्ठम्॥ मु० उ० १।२।१२

का प्रयास करते हैं किन्तु कोई विरला ही जान पाता[१] है। यदि आत्म साक्षात्कार करने वाले गुरु के द्वारा सम्यक् उपदेश प्राप्त हो जाता है तो उपदिष्ट व्यक्ति आश्चर्यमय अर्थात् सांसारिक व्यक्तियों से भिन्न हो जाता है, क्योंकि आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर उसके आचरण सांसारिक व्यक्तियों से भिन्न हो जाते हैं, जिसे देखकर लोगों को आश्चर्य[२] होता है।

कहने का आशय यह है कि इस लोक में न आत्मतत्त्व के वक्ता ही हैं, न इसके ज्ञाता ही हैं। यह अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है।

**संबन्ध**—वक्ता और ज्ञाता की दुर्लभता के कारण का प्रतिपादन करते हैं—

**न नरेणावरेण प्रोक्त एष**
**सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।**
**अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति**
**अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥**

**शा० भा०**—कस्मात्—न हि नरेण मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिना इत्येतदुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि। न हि सुष्ठु सम्यग्विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो यस्माद् बहुधास्ति नास्ति कर्ताकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः। कथं पुनः सुविज्ञेय इत्युच्यते—अनन्यप्रोक्तेऽनन्येन अपृथग्दर्शिना आचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त उक्त आत्मनि गतिरनेकधास्ति नास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन् आत्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्मितत्वादात्मनः अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन् आत्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते गतिः अत्रान्यावगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्याभावात्। ज्ञानस्य ह्येषा परा निष्ठा यदात्मैकत्व

---

१. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ गी० ७।३

२. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्। गी० २।२९

विज्ञानम् । अतोऽवगन्ताव्याभावान्न गतिः अत्रावशिष्यते । संसारगतिर्वात्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात् तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य । अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाचार्येण प्रोक्त आत्मनि अगतिरनवबोधोऽपरिज्ञानम् अत्र नास्ति । भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदस्म्यहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थः । एवं सुविज्ञेय आत्मा आगमवता आचार्येणानन्यतया प्रोक्तः । इतरथा ह्यणीयानणुप्रमाणादपि सम्पद्यत आत्मा । अतर्क्यमतर्क्यः । स्वबुद्ध्याभ्यूहेन केवलेन तर्केण तर्क्यमाणेऽणुपरिमाणे केनचित् स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरम् अन्योऽभ्यूहति ततोप्यन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिविद्यते ॥८॥

**अन्वय**—अवरेण नरेण प्रोक्त एषः बहुधा चिन्त्यमानः (सन्) न सुविज्ञेयः । अनन्यप्रोक्ते अत्र गतिः नास्ति । अणुप्रमाणात् अणीयान् (आत्मा) हि अतर्क्यम् अस्ति ॥ ८ ॥

**शब्दार्थ**—अवरेण = प्राकृत (जिसने आत्मा का साक्षात्कार नही किया है ऐसे) मनुष्य के द्वारा । चिन्त्यमानः = चिन्तन किए जाने पर । अनन्यप्रोक्तें = ब्रह्मभूत अपृथक्दर्शी अथवा शिष्य को ब्रह्म से पृथक् न मानने वाले आचार्य के द्वारा उपदेश दिए जाने पर । गति १. संशयात्मक अथवा विपर्ययात्मक (आत्मा है या नहीं) ज्ञान या चिन्ता २. (मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा ज्ञान होने पर) अन्य पदार्थ की अवगति ३. संसार अर्थात् दूसरे देह की प्राप्ति ४. अगति अर्थात् अनवबोध या अपरिज्ञान । अत्र = इस आत्मा के विषय में । अणुप्रमाणात् = अल्पपरिमाण वाले अणु से भी । अणीयान् = अधिक सूक्ष्म । अतर्क्य = तर्क से परे ।

**अनुवाद**—अवर (अर्थात् जिसने आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया है, ऐसे अपकृष्ट धर्मवाले) मनुष्य के द्वारा उपदिष्ट यह आत्मतत्त्व (यदि उपदिष्ट पुरुष के द्वारा) वहुत प्रकार से (आत्मा है या नहीं, आत्मा कर्ता है या अकर्ता, या शुद्ध है या अशुद्ध इत्यादि रूप से चिन्तन भी किया जाय है तो) चिन्तन किए जाने पर भी (सम्यक् रूप से नहीं ज्ञात हो सकता है । (ब्रह्म से संसार को) पृथक न देखने वाले ब्रह्मभूत आचार्य के द्वारा उपदिष्ट आत्मा के विषय में गति (है

या नहीं इत्यादि प्रकार की चिन्ता) नहीं रहती अथवा शिष्य को, "तुम ब्रह्म से भिन्न नहीं (अनन्य) हो" ऐसा उपदेश आचार्य के द्वारा दिए जाने पर (शिष्य को "मैं ब्रह्म हूँ", का ज्ञान हो जाने पर) गति (अन्य पदार्थ के ज्ञान की आवश्यकता) नहीं रहती है। अथवा (शिष्य के लिए) गति (अर्थात् संसार) नहीं रह जाता अथवा (ब्रह्म के जान लेने पर) गति (आत्मा में अज्ञान) नहीं रहता है। यह आत्मा अणु से भी अधिक सूक्ष्म है (इसीलिए) तर्क का विषय नहीं है।

**व्याख्या**—जिसने आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया है, केवल शास्त्रों का ही अध्ययन किया है, अथवा आत्मा के विषय में कुछ भी न जानने वाले प्राकृत जन यदि आत्मतत्व का उपदेश देते हैं तो वह शिष्य के लिए व्यर्थ है। उस उपदेश के बाद वह यदि बार-बार आत्मा का चिन्तन (अर्थात् आत्मा की सत्ता है अथवा नहीं, था। इस विश्व का कर्ता आत्मा है या स्वतः संसार की उत्पत्ति हुई है अथवा आत्मा या परममात्मा भिन्न हैं, एक है, या आत्मा सगुण है या निर्गुंण) भी करे तो आत्मतत्व उसके द्वारा स्वरूपतः नहीं जाना जा सकता है। वस्तुतः विना उत्तम गुरु के वस्तु का साक्षात्कार नहीं होता। इसलिए इस आत्मतत्त्व को सम्यक् जानने के लिए श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की अपेक्षा होती है।

अनन्य अर्थात् जिसके लिए संसार ब्रह्म से अन्य=पृथक् नहीं है ऐसा ब्रह्मात्मभूत आचार्य यदि आत्मा का उपदेश देता है तो सम्यक् उपदेश होने के कारण शिष्य की गति—किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। वह आत्म तत्व को भली-भाँति समझ लेता है। क्योंकि आचार्य के द्वारा संदेह और विपर्ययादि का निराकरण कर दिया जाता है। अथवा अनन्य (तुम ब्रह्म से भिन्न नहीं हो, अर्थात् तुम ब्रह्म ही हो, ऐसे) शिष्य के लिए आचार्य के द्वारा उत्तम उपदेश दिया जाता है तो शिष्य का अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह अपने को ब्रह्म समझने लगता है इसलिए ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद गति=ज्ञानान्तर की आवश्यकता नहीं पड़ती है।[1] उसका संसार=पुनः जन्म लेना समाप्त हो जाता

---

१. येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। छा० उ० ६।१।३

है। क्योंकि ज्ञानी को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। संसार तभी तक रहता है, जब तक गति (आत्मा में अज्ञान की सत्ता) रहती है।

वस्तुतः यह तर्क का विषय नहीं है। तार्किकी बुद्धि अणु तक ही जा सकती है, यह आत्मा तो अणु से भी सूक्ष्म है। इसलिए तर्क के द्वारा नहीं समझा जा सकता है। जिसने इस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया है वही आचार्य इसका साक्षात्कार करा सकता है।

यमराज के कहने का आशय यह है कि मैंने इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व का साक्षात्कार किया है। इसलिए मेरे द्वारा उपदेश दिए जाने पर तुम आत्मतत्त्व-वेत्ता हो जाओगे ॥८॥

**संबंध**—आत्मा को जानने के लिए गुरु की क्यों आवश्यकता पड़ती है? इसका उत्तर देते हुए यम कह रहे हैं—

**नैषा तर्केण मतिरापनेया**
**प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।**
**यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि।**
**त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥**

**शा०भा०**—अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मनि उत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः। नापनेतव्या वा न हातव्या तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कथयति। अत एव च येयमागमप्रभूता मतिरन्येनैवागमाभिज्ञेन आचार्येणैव तर्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम! का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यवेतयां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेन आपः प्राप्तवानसि। सत्या अवितथविषया धृतिर्यस्य त स त्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्माणविज्ञानस्तुतये। त्वादृक्त्वत्तुल्यो नः अस्मभ्यं भूयाद् भवतात् भवत्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा; कीदृग्यादृग्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥

**अन्वय**—हे प्रेष्ठ ! याम् त्वम् आपः, एषा मतिः तर्केण न आपनेया, अन्येन प्रोक्ता एव सुज्ञानाय (भवति) । वत सत्यधृतिः असि । (हे नचिकैतः !) त्वादृक् प्रष्टा नः भूयात् ।

**शब्दार्थ**—प्रेष्ठ = प्रियतम । सत्यधृतिः = सत्य विषय को धारण करने वाले हो । प्रष्टा = पूछने वाला ।

**अनुवाद**—हे प्रियतम (शिष्य मेरे द्वारा वर देने के कारण) जिस (बुद्धि) को तुमने प्राप्त किया है, वह (केवल) तर्क से नहीं मिल सकती है । (नास्तिकों से) अन्य (आचार्य के द्वारा) उपदिष्ट होने पर (आत्मस्वरूपाकार मति) सम्यक् ज्ञान (आत्म साक्षात्कार) का कारण बनती है । सचमुच ! (तुम) सत्य को धारण करने वाले हो । हे नचिकेता ! तुम्हारे जैसा ही प्रश्न करने वाला हमें मिला करें ॥९॥

**व्याख्या**—यमराज नचिकेता की प्रशंसा करते हुए कह रहे हैं कि तुम प्रियतम शिष्य हो, क्योंकि तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त निर्मल है । तुम सत्य को धारण करने वाले हो अर्थात् तुम्हारी निर्मल बुद्धि में सत्य वस्तु की अवधारणा है । आत्मविषयिणी मति अपनी कल्पनाओं के द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती है । अथवा आचार्य के उपदेश से उत्पन्न होने वाली मति को कुतर्क से उसी प्रकार से रक्षा करनी चाहिए, जैसे सिंह से गो की रक्षा की जाती है ।

वस्तुतः आगमविद् आचार्य के उपदेश-जल से प्रक्षालित बुद्धि आत्म-साक्षात्कार के लिए योग्य हो जाती है । इस प्रकार की बुद्धि तुमने वरदान में मुझसे प्राप्त की है । इसलिए मेरे द्वारा उपदेश दिया जाने वाला आत्मतत्त्व तुम्हारी निर्मल बुद्धि में इसी प्रकार प्रतिविम्बित होगा, जैसे स्वच्छ दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित होता है । मुझे निरन्तर तुम्हारे जैसे प्रश्न करने वाले प्राप्त होते रहें जिससे मैं अविरल आत्म-तत्त्व का उपदेश देता रहूँ ॥९॥

**संबंध**—यमराज कह रहे हैं—

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

**शा० भा०**—पुनरपि तुष्ट आह—जानाम्यहं शेवधिर्निधिः कर्मफल-लक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यत इति। असावनित्यमनित्य इति जानामि न हि यस्मादनित्यैः अध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते परमात्माख्यः शेवधिः। यस्त्व-नित्यसुखात्मकः शेवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते। हि यतस्ततस्तस्मा-न्मया जानतापि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति नाचिकेतश्चितोऽग्निः अनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित इत्यर्थः। तेना-हमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवा-नस्मि ॥१०॥

**अन्वय**—शेवधिः अनित्यम् इति अहं जानामि। तत् ध्रुवं अध्रुवैः हि न प्राप्यते। ततः मया अनित्यद्रव्यैः नाचिकेतः अग्निः चितः। (तेन कर्मणा) नित्यं प्राप्तवान् अस्मि ॥१०॥

**शब्दार्थः**—शेवधिः = (कर्मफल रूप) निधि। ध्रुवम्=नित्य पदार्थ परमात्मा।

**अनुवाद**--कर्मफल रूप निधि अनित्य (नश्वर) है--यह मैं जानता हूँ। वह नित्य (आत्मा या मोक्ष नामक फल) अनित्य साधनों से नहीं प्राप्त होता है। (इस सत्य को जानता हुआ भी) मेरे द्वारा अनित्य द्रव्यों (पशु आदि) से (सम्पादित होने वाली) नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया है। (इसलिए इस कर्मफल-स्वरूप मैं (आपेक्षिक) नित्य (यम-पद) को प्राप्त हुआ हूँ ॥१०॥

**व्याख्या**—नचिकेता! मैं इस तथ्य को अच्छी प्रकार जानता हूँ कि यज्ञादि कर्म-समूहों से अनित्य[1] भोग की प्राप्ति होती है। अनित्य वस्तुओं से नित्य वस्तु

---

१. "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा" मु० उ० १।२।७

× × ×

"इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः" मु०उ० १।२।१०

की प्राप्ति नहीं होती है। यज्ञादि रूप साधन अनित्य फल प्रदान करने वाले हैं। इसलिए इनसे नित्य आत्म-तत्त्व या मोक्ष की प्राप्ति नहीं की जा सकती है। जो व्यक्ति अनित्य साधनों से नित्य वस्तु की प्राप्ति की कामना करते हैं, वे सत्य को नहीं जानते हैं।

यमराज कह रहे हैं कि मैंने नाचिकेत अग्नि का चयन किया है। यह पशु आदि साधनों से सम्पादित होती है। अर्थात् यज्ञ में पशु अन्नादि द्रव्यों की आवश्यकता पड़ती है। पशु आदि द्रव्यों से सम्पादित होने वाली अग्नि के द्वारा चिरस्थायी स्वर्ग की प्राप्ति होती है। मुझे भी नित्य स्वर्ग अर्थात् यम-पद प्राप्त हुआ है। यह स्वर्ग आपेक्षिक नित्य है अर्थात् वनिता-पुत्रादि सुखों की अपेक्षा नित्य है। यह चिरकाल तक रह सकता है, अनन्तकाल तक नहीं। इस अग्नि से नित्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः तुम भी मेरे द्वारा प्रदत्त नाचिकेत अग्नि से नित्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकते, वरन् चिरस्थायी स्वर्ग ही प्राप्त कर सकते हो ॥१०॥

**संबंध**—यमराज नचिकेता की सत्बुद्धि की प्रशंसा कर रहे हैं—

**कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां**
**क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।**
**स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा**
**धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥**

**शा० भा०**—त्वं तु कामस्याप्तिं समाप्तिम्; अत्रैवेहैव सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात् क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं पदमनन्त्यमानन्त्यम्, अभयस्य च पारं परां निष्ठां, स्तोमं स्तुत्यं महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात् स्तोममहत्, उरुगायं विस्तीर्णां गतिं, प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरो धीमान्सन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः परमेव आकाङ्क्षन्नतिसृष्टवानसि सर्वमेतत् संसारभोगजातम्। अहो! बतानुत्तमगुणोऽसि ॥११॥

**अन्वय**—हे नचिकेतः ! (त्वम्) कामस्य आप्तिं, जगतः प्रतिष्ठां, क्रतोः अनन्त्यम्, अभयस्य पारं, स्तोमंमहत् उरुगायम् प्रतिष्ठाम् दृष्ट्वा धृत्या अत्यस्राक्षीः। (अतः त्वम्) धीरः (असि) ॥११॥

**शब्दार्थ**—आप्ति = समाप्ति (स्थान)। प्रतिष्ठाम् = आधार। क्रतोः = यज्ञ का। अनन्त्यम् = न अनन्त होने वाला अर्थात् चिरस्थायी फल अभयस्य पारम् = निर्भयता की अवधि। स्तोमंमहत् = स्तुत्य अणिमादि ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त। उरुगायम् = विस्तीर्ण गति वाले अथवा (वेदों के द्वारा) पूर्ण रूप से गान किये जाने वाले। प्रतिष्ठाम् = दीर्घ कालिक स्थिति। धृत्या = धैर्यपूर्वक। अत्यस्राक्षीः त्याग दिया।

**अनुवाद**—हे नचिकेता ! (तुमने) कामनाओं की समाप्ति स्थान, (चरा चरात्मक) जगत का आधार, यज्ञ के अनन्त (चिरस्थायी फल), निर्भयता की सीमा, स्तुत्य महान् (अणिमा आदि ऐश्वर्व गुणों से युक्त), विस्तीर्ण गति (अथवा वेदों में जिसके गुणों का गान किया गया है) तथा प्रतिष्ठा अर्थात् दीर्घकाल तक की स्थिति से सम्पन्न स्वर्गलोक की अनित्यता) को देखकर धैर्यपूर्वक (हिरण्य गर्भपद पर्यन्त भोग्य समूहों का) परित्याग कर दिया (अतः तुम) धीर (अनुपम गुण वाले) हो ॥११॥

**व्याख्या**—स्वर्ग लोक में सम्पूर्ण कामनाओं की परिसमाप्ति हो जाती है। यही स्वर्ग जगत् का आधार है। स्वर्गलोक के निवासी इन्द्रादि ने वर्षा आदि के द्वारा जगत को प्रतिष्ठित किया है। अथवा हिरण्यगर्भ ही जगत के आधार हैं क्योंकि हिरण्यगर्भ से ही सृष्टि होती है। ब्रह्मा हिरण्यगर्भादि का स्थान भी एक दिन नष्ट हो जाता है। यज्ञ का फल अनन्त अर्थात् चिरस्थायी स्वर्ग है। वहाँ सांसारिक भय की समाप्ति हो जाती है। यह स्वर्ग विस्तीर्ण गति वाला चिरस्थायी है अथवा इस स्वर्गलोक की प्रशंसा वेदों ने विस्तार पूर्वक की है। ऐसे स्वर्गलोक की प्रतिष्ठा—दीर्घकालिक स्थिति या सत्ता को देखकर तुम्हारा मन लोभ में नहीं फँसा। तुमने, अच्छी प्रकार विचार कर अनित्य स्वर्ग का परित्याग कर दिया। स्वर्ग में अणिमादि ऐश्वर्यों का विलास है किन्तु उसे भी तुमने

निःस्सार ही समझा। इसलिए सबका परित्याग कर दिया। अतः तुम धीर[1] हो अर्थात् तुम लोकोत्तर गुणों से सम्पन्न हो। अतः तुम आत्मज्ञान के उत्तम अधिकारी हो ॥११॥

**संबंध**—नचिकेता की स्थितिप्रज्ञता को देखकर यम ने यह समझ लिया कि यह आत्मज्ञान का यथार्थ अधिकारी है अतः वह परमात्म तत्त्व की महिमा का वर्णन करता है—

**तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं**
**गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।**
**अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं**
**मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥**

**शा० भा०**—यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानम्—तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनम् अस्येति दुर्दर्शोऽतिसूक्ष्मत्वात्; गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकार-विज्ञानैः प्रच्छन्नमित्येतत्, गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमान-त्वात् गह्वरेष्ठम् विषमे विषमेऽनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम्। यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्चासौ गह्वरेष्ठः अतो दुर्दर्शः। तं पुराणं पुरातनमध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समा-धानम् अध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो हर्षशोका-वात्मन उत्कर्षापकर्षयाः अभावाज्जहाति ॥१२॥

**अन्वय**—धीरः, तं दुर्दर्शं गूढम् अनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं देवं अध्यात्म-योगाधिगमेन मत्वा हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥

**शब्दार्थ**—दुर्दर्श = (दुःखेन दर्शनम् अस्य इति) कठिनता पूर्वक देखे जाने वाले अथवा असंयतचित्त वालों से न देखे जाने योग्य। गूढम् = (योग माया में) अन्तर्निहित। अनुप्रविष्ट = सर्वव्यापी गुहाहितं = हृदय अथवा बुद्धि रूपी गुहा में स्थित। गह्वरेष्ठं = संसार रूपी गहन वन में रहने वाला अथवा अनर्थों से होने

---

१. "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः" कु०स० १।५९

वाले कार्य कारण संघात में स्थित । पुराणम् = सनातन । देवम् = परम तत्त्व को। अध्यात्मयोगाधिगमेन = अध्यात्मयोग (विषयों से मन को हटाकर आत्मा में मन को लगाना) की प्राप्ति के द्वारा ।

**अनुवाद**—(हे नचिकेता ! जिस परम आत्म तत्त्व को तुम जानना चाहते हो) धीर व्यक्ति, उस कठिनाई से साक्षात्कार किये जाने वाले, गूढ़ स्थान (माया के कार्य) में अन्तर्हित, सर्वव्यापी (अर्थात् कार्य समूहों की सृष्टि कर उसी में अनुप्रविष्ट), (बुद्धि अथवा हृदय में प्राप्य होने के कारण) बुद्धि रूपी गुहा में स्थित, गह्वर अर्थात् विषम अनेक अनर्थ के संकट में रहने वाले[१] अथवा राग-द्वेषादि अनर्थों के द्वारा आयास जनक कार्य-कारण संघात में स्थित,[२] सनातन, (सतत) प्रकाशशील आत्मतत्त्व को अध्यात्मयोग की प्राप्ति के द्वारा जानकर, हर्ष और शोक का परित्याग कर देता है ॥१२॥

**व्याख्या**—परमात्मा अपनी योग-माया में छिपा रहता[3] है। इसलिए सभी लोग उसे जान नहीं पाते । वह सर्वव्यापी है, वह जगत् की सृष्टि कर, उसीमें अनुप्रविष्ट[४] हैं । जिस प्रकार आकाश में वायु स्थित है उसी प्रकार परमात्मा में सम्पूर्ण चराचर[५] है । वह प्रत्येक प्राणी के हृदय रूपी गुहा में स्थित[६] है । सभी पदार्थों की सत्ता बौद्ध होती है । इसलिए वह परमात्म तत्त्व बुद्धि रूपी गुहा में

---

१. "विषमेऽनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम् ।" शां० भा०

२. "रागद्वेषादिभिरनर्थैरायासजनके कार्य्यकारणसंघाते स्थितम्"
कठोप० मणिप्रभा व्याख्या पृ० ४४ ।

३. "नाहं प्रकाश : सर्वस्य योगमायासमावृत:" गी० ७।२५ ।

४. "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" तैत्तिरीयोपनिषद् २।६ ।

५. यथाकाशस्थितो नित्यं वायु सर्वत्रगोमहान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ गी० ९।५

६. "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो" गी० १५।१५
"सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट:" श्वेता० ४।१७ ।

स्थित है।[1] रागद्वेषादि से उत्पन्न होने वाला कार्यकारण संघात गह्वर है। गह्वर का अर्थ गुफा होता है। जैसे गुफा में गहन अन्धकार रहता है, उसी प्रकार रागद्वेषादि, परम अन्धकार स्थान है। इस प्रकार के गहन स्थान में वह परमात्मा तत्त्व स्थित है अर्थात् रागद्वेषादि अनर्थों के कारण उस परमात्मा तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता है। इसलिए वह दुर्दश है। व्यक्ति सांसारिक आँखों से उसे नहीं देख सकता[2] है। असंयत इन्द्रिय वाले व्यक्ति उसे कभी नहीं देख सकते हैं। उस परम तत्त्व की अनादिता है, इसीलिए वह पुराण—सनातन है। उसके प्रकाश से[3] सारा संसार प्रकाशित होता रहता है, अतः वह देव है।

इस परमात्म तत्त्व को योग के द्वारा ही जाना जा सकता है। चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग[4] है। परमात्म तत्त्व के साक्षात्कार में मन जब समाहित हो जाता है, तब अध्यात्मयोग की प्राप्ति होती है। इसी योग की प्राप्ति होने पर उस परम तत्त्व का सर्वथा साक्षात्कार हो जाता है और हृदय की सभी ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं। एसी स्थिति में अर्थात् परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर, धीर मनुष्य हर्ष और शोक से मुक्त हो जाता है अर्थात् न उसे सांसारिक रागद्वेषादि शोक प्रदान करते हैं; न संसार से लेकर प्रजापति-पद की प्राप्ति के हर्ष, उसे विचलित कर पाते हैं। जैसे नदी समुद्र को पाकर स्थिर हो जाती है, वैसे ही परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार कर वह धीर उत्कर्ष और अपकर्ष से रहित हो जाता है ॥१२॥

**एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः**
**प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।**
**स मोदते मोदनीयँ् हि लब्ध्वा**
**विवृतँ् सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥१३॥**

---

१. "एको देवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" श्वेताश्व० ६।६।११

२. "न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा" गी० ११।८।

३. तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठोपनि० २।२।१५।

४. "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यो० सू० १।१।
"परो हि योगो मनसः समाधिः" श्रीमद्भा० पु० ११।२३।४६।

**शा० भा०**—किं च—एतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाचार्यप्रसादात्सम्यगात्मभावेन परिगृह्योपादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्योद्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेः अणुं सूक्ष्ममेतमात्मानमाप्य प्राप्य स मर्त्यो विद्वान् मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा। तदेतदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

**अन्वय**—(यः) मर्त्यः एतत् श्रुत्वा, सम्परिगृह्य, प्रवृह्य एतम् धर्म्यम् अणुम् आप्य (वर्तते); सः मोदनीयं लब्ध्वा मोदते हि। (त्वां) नचिकेतसं (प्रति) विवृतं (ब्रह्मात्मकं) सद्म मन्ये ॥१३॥

**शब्दार्थ**—एतत् = इस आत्मतत्त्व को। सम्परिगृह्य = भलीभाँति मनन कर। प्रवृह्य = विवेक पूर्वक विचार (निदिध्यासन) कर। धर्म्यं = धर्म से युक्त। अणुम् = सूक्ष्म (आत्मा) को। आप्य = साक्षात्कार कर। मोदनीयम् = आनन्दस्वरूप परमात्मा को। मोदते = आनन्द मग्न हो जाता है। सद्म = ब्रह्मात्मक गृह। विवृतम् = खुला हुआ।

**अनुवाद**—(जो) मनुष्य इस आत्मतत्त्व को गुरु से) सुनकर, (उसका) भलीभाँति ग्रहण (मनन) कर तथा निदिध्यासन कर (या शरीरादि से पृथक् कर) धर्म से युक्त सूक्ष्म आत्मा का साक्षात्कार कर (स्थित रहता है) वह आनन्द के विषय (आनन्द स्वरूप आत्मा) को पाकर आनन्दित होता है। (मैं तुम) नचिकेता को खुले हुये (ब्रह्म) घर वाला मानता हूँ ॥१३॥

**व्याख्या**—आत्म तत्त्व को प्राप्त करने के लिए गुरु से आत्मा का श्रवण करना चाहिए अर्थात् आत्म तत्त्व के स्वरूप को जानना चाहिए। इसके स्वरूप को जानकर प्रतिदिन उसका मनन करना चाहिए। उसके पश्चात् निदिध्यासन करना चाहिए। निरन्तर दीर्घकाल तक अभ्यास करने से आत्म ज्ञान दृढ़भूमित्व को प्राप्त हो जाता है। श्रवणादि के द्वारा ही उस धर्म[1]स्वरूप सूक्ष्म आत्म तत्त्व

१. ब्रह्म स्वतः धर्म है—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
—गी० १४।२७

का साक्षात्कार किया जाता हैं। यह परमात्म तत्त्व आनन्द[1] स्वरूप है। इसलिए इसका साक्षात्कार करने वाला भी आनन्दित होता है। इस आनन्द[2] को पाकर साधक का भय समाप्त हो जाता है अतः अनन्त काल तक आनन्द के सागर में डुबकी लगाता रहता है।

यमराज नचिकेता से कह रहा है कि तुम्हारे लिए ब्रह्म का घर खुला हुआ है। वहाँ किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं हैं। जिसकी बुद्धि निर्मल होती है, जो सम्पूर्ण कामनाओं का परित्याग कर देता है, उसके लिए ब्रह्म का घर खुला हुआ रहता है अर्थात् उस साधक पर ब्रह्म की अनुकम्पा रहती हैं। वह सरलता से ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है ॥१३॥

**सम्बन्ध**—नचिकेता ने प्रश्न करते हुए कहा कि यदि आत्मज्ञान ही मोक्ष का साधन है, तो आप कृपा कर उसका उपदेश दीजिए—

**अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृतात्।**
**अन्यत्र भूताच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥**

**शा० भा०**—यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रति-अन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः। तथा अन्यत्र अधर्मात्तियान्यत्रास्मात्कृताकृतात् कृतं कार्यम् अकृतंकारणमस्मात् अन्यत्र। किं चान्यत्र भूताच्चतिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात् कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः। यद् ईदृशंस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि तद्वद मह्यम् ॥ १४ ॥

**अन्वय**—यत् धर्मात् अन्यत्र, अधर्मात् अन्यत्र, अस्मात् कृताकृतात् अन्यत्र, भूतात् च अन्यत्र, भव्यात् च अन्यत्र पश्यसि, तद् वदा ॥ १४ ॥

**शब्दार्थ**—धर्मात् = फलकारक यज्ञादिरुप धर्म। अधर्मात् = अधर्म से। कृताकृतात् = कार्यकारणरूप सम्पूर्ण जगत से। भव्यात् = भविष्यत् से।

१. "आनन्दं ब्रह्मेति"—तैत्तिरी० ३।६।
२. "आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन" तैत्तिरीयोप०९।१

**अनुवाद**—(आप) जिस आत्म तत्त्व को (फलकारक यज्ञादि) धर्म से पृथक्, अधर्म से पृथक्, इस कार्य करण रूप जगत से पृथक् तथा भूत, भविष्यत् (तथा-वर्तमान) से पृथक् जानते हैं, उसे (हमें) बताइए ॥ १४ ॥

**व्याख्या**—हे यमराज ! यदि आप मुझपर अति प्रसन्न हैं तो धर्माधर्म, कार्य करण रूप जगत, और तीनों काल से पृथक् आत्मत्त्व का उपदेश दीजिए क्योंकि आप इसे जानते हैं ।

यज्ञादि धर्म से स्वर्ग-फल का सम्बन्ध है । आत्मा का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है । हिंसादि रूप अधर्म से पृथक्[1] है । अधर्म के फल शरीर को प्राप्त होते है, आत्मा को नहीं । कार्य-कारण रूप जगत् से उसकी सत्ता पृथक् है । उस आत्म-तत्त्व का न कोई कार्य[2] है न कारण[3] । यह जगत् माया का कार्य है । वह अनादि है, इसलिए भूत वर्तमान और भविष्यत् काल से असम्बद्ध है ।

आप इस प्रकार के परमात्मतत्त्र को जानते हैं, इसलिए हमें भी इसका उपदेश दें क्योंकि आप ऐसा उपदेष्टा नहीं मिल सकता है ॥ १४ ॥

**सम्बन्ध**—साधन के बिना तत्त्वज्ञान की प्राति नहीं हो सकती है । इसलिए यमराज तत्त्वज्ञान के साधन रूप द्विविध ओङ्कार उपासना का प्रतिपादन कर रहे हैं—

**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**
**तपँसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।**
**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**
**तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥**

---

१. न हन्यते हन्यमाने शरीरे० २।२०
"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि" गी० २।२३ ।

२. न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ॥ श्वेताश्व० ६।६।८

३. न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके,
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् । श्वेताश्व ६।६।९

**शा० भा०**—इत्येवं पृष्टवते मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्—सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनामनन्ति प्रतिपादयन्ति। तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वां ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुम् इच्छसि सङ्ग्रहेण सङ्क्षेपत्तो ब्रवीमि। ओमित्येतत् तदेतत्पदं यद्बुभुत्सितं त्वया। यदेतद् ओमित्योंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीकं च ॥१५॥

**अन्वय**—सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति सर्वाणि तपांसि च यत् वदन्ति, यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्पदं ते संग्रहेण ब्रवीमि। ॐ इति एतत् ॥ १५ ॥

**शब्दार्थ**—पदं = गमनीय स्थान। अमानन्ति = प्रतिपादन करते हैं। संग्रहेंण = संक्षेप में।

**अनुवाद**—सभी वेद जिस (गन्तव्य) पद का बार-बार प्रतिपादन करते हैं और सभी तप (चित्तशुद्धि के द्वारा) जिस स्थान का आख्यान करते हैं, जिसको पाने की इच्छा करते हुए (साधकगण) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ। वह पद ॐ है।

**व्याख्या**—सभी वेद एक स्वर से यही कहते हैं कि परब्रह्म ही गन्तव्यस्थान है।[1] परमान्द की प्राप्ति का साधन परब्रह्म की प्राप्ति है। जिनके द्वारा चित्तशुद्धि होती है ऐसे विविज प्रकार के तप ब्रह्मप्राप्ति के साधन हैं। तपस्या से पाप नष्ट हो जाते हैं। पापों के नष्ट हो जाने पर निर्मल चित्त के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है। अष्टाङ्ग मैथुन से विरत रहना ब्रह्मचर्य है।[2] इसके सेवन से ब्रह्म का साक्षा-

१. यदक्षरं वेदविदो विदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदे संग्रहणेन प्रवक्ष्ये ॥ गी० ८।११

२. दर्शनं स्पर्शनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
ऐतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥दक्षस्मृ० ७।३१।३२।

त्कार हो जाता है। जिसको प्राप्त करने के लिए सारे उपाय किए जाते हैं वह पद ॐकार है अर्थात् ॐ ही ब्रह्म का वाचक है[1] और वही वाच्य है। वस्तुतः ॐ ही अविनाशी परमात्मा है। भूत, वर्तमान भविष्यत् सब कुछ ओङ्कार है।[2] जो ओङ्कार स्वरूप परमात्म तत्त्व को जानता हैं वही आत्मस्वरूप ओङ्कार के अवलम्बन से पारमार्थिक ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त करता[3] है ॥ १५ ॥

**सम्बन्ध**—प्रणवोपासना-कथन के पश्चात् प्रणव की स्तुति और उसकी उपासना के फल का प्रतिपादन किया जा रहा है—

**एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।**
**एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥**

**शा० भा०**—अतः-एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्ध्येवाक्षरं परं च। तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम्, एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वोपास्य ब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद् भवति। परं चेज्ज्ञातव्यमपरं चेत्प्राप्तव्यम् ॥१६॥

**अन्वय**—एतद् अक्षरम् एव हि ब्रह्म। एतन् अक्षरम् एव हि परम् एतद् अक्षरं एव ज्ञात्वा यः यद् इच्छति तस्य तत् (भवति) ॥ १६ ॥

**शब्दार्थ**—एतत् = यह। परम् = पर ब्रह्म है। अक्षर = प्रणव रूप ओम्।

**अनुवाद**—यह (ॐ रूप) अक्षर (हिरण्यगर्भरूप अपर) ब्रह्म है। यह (ॐ) अक्षर ही (पर) ब्रह्म है। इसी अक्षर को जानकर (अर्थात् पर और अपर ब्रह्म

---

१. तस्यवाचकः प्रणवः यो० सू० १।२७। "तस्योंकारः स्मृतो नाम" वृहद्० यो० वा० स्मृति २।६१।

२. ओमित्येतदक्षरमिदँसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। माण्डू० उ० १।१।

४. एवमेवोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ माण्डू० ३।१।१२।

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तैत्तिरी० ३।६।

का ध्यान कर) जो (उपासक) जिस (फल) की इच्छा करता है, वह उस (उपासक) का हो जाता है ॥१६॥

**व्याख्या**—यमराज नचिकेता से ओङ्कार-रहस्य की प्रतिपादन करते हुए कह रहे हैं कि ब्रह्म का तीन पाद (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) उसका अपर स्वरूप है।[1] शुद्ध स्वरूप उससे भिन्न है, जिसे पर ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म का पर और अपर दोनों रूप ओंकार है। ब्रह्म का अपर रूप हिरण्यगर्भ है। अ + उ + म् = ॐ का "अ" अपर ब्रह्म का जाग्रद् रूप हैं, "उ" स्वप्न रूप[3] और "म्" सुषुप्ति[4] रूप। शुद्ध पर ब्रह्म मात्रा रहित ओंकार रूप[5] है।

यमराज विश्वास दिलाते हैं कि उपासक जिस ब्रह्म का ध्यान करता है, उसे उसके फल की प्राप्ति होती है। यदि वह हिरण्यगर्भ रूप अपर ब्रह्म का ध्यान करता है तो उसे विराट् रूप की प्राप्ति होती है। यदि वह परब्रह्म का ध्यान कर उसे जानता है तो वह ब्रह्म हो जाता है[6] ॥१६॥

---

१. सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति। माण्डूको० उप० ८।

× × ×

"ओमिति सर्वम्" तैत्ति० १।८ 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" प्रश्नोप०५।२

२. जागरतिस्थानो वैश्वानरोऽकारः माण्डू० उ०।९

३. स्वप्नस्थानतैजस उकारो माण्डू० १०।

४. सुषुप्तस्थानः प्राज्ञः मकारः माण्डू० ११।

५. अमात्रश्चतुर्थः ओङ्कार आत्मैव। माण्डू १२।

६. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तैत्ति० २।१।

× × ×

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ गी० ८।१३।

**एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।**
**एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥**

**शा० भा०**—यत एवमतः-एतदालम्बनमेतद् ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यमम् एतदालम्बनं परमपरं च परापरब्रह्मविषयत्वात् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते परस्मिन् ब्रह्मणि । अपरस्मिश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ॥१७॥

**अन्वय**—एतत् श्रेष्ठम् आलम्बनम् । एतत् परम् आलम्बनम् । एतत् आलम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

**शब्दार्थ**—एतत् प्रणवरूप । महीयते = महिमा से युक्त होता है।

**अनुवाद**—यह (प्रणवरूप) आलम्बन (ब्रह्म-प्राप्ति के आलम्बनों में) श्रेष्ठ है । यह (प्रणवरूप आलम्बन परब्रह्म के ध्यान का उपकारक होने के कारण) उत्कृष्ट है । इस (प्रणवरूप) अलम्बन की उपासना कर (साधक) ब्रह्मलोक में में महिमान्वित होता है ॥ १७ ॥

**व्याख्या**—ब्रह्म-साक्षात्कार के अनेक उपाय हैं । ब्रह्मचर्य, तपस्या, गायत्री मंत्र का जाप आदि उपायों में प्रणव रूप आलम्बन श्रेष्ठ है क्योंकि प्रणव ब्रह्मरूप है और यह कार्य ब्रह्म के ध्यान का उपकारक है । जब ध्याता के ध्यान की पराकाष्ठा होती है अर्थात् स्मृति की परिशुद्धि हो जाती है तब केवल अर्थ[1] मात्र का साक्षात्कार होता है । ऐसी स्थिति में परब्रह्म का ही साक्षात्कार होता है । वाचक रूप शब्द की सत्ता नहीं रहती है । इसलिए परब्रह्म के साक्षात्कार का उपकारक होने से प्रणवरूप उत्कृष्ट है । इस प्रणव की उपासना के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और साधक महिमा अर्थात् मोक्ष या परमानन्द को प्राप्त कर लेता है[2] ॥१७॥

---

१. "स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का" यो० सू० १।४३ ।
२. तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ प्रश्नोप० ५।७ ।

**संबंध**—प्रणव अथवा उपासना का प्रतिपादन कर आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए यमराज कह रहे हैं—

आत्मस्वरूपम्

**न जायते म्रियते वा विपश्चित्**
**नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।**
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो**
**न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥**

**शा० भा०**—न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्य अनेकविक्रियाः तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहात्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति विपश्चिन्मेधावी अविपरिलुप्तचैतन्यस्वभावात् । किं च नायमात्मा कुतश्चित् कारणान्तराद् बभूव । स्वस्माच्च आत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः । अतोऽयमात्माजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः । यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते, अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुरापि नव एवेति । यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिः । तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः । यत एवमतो न हन्यते हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे । तत्स्थोप्याकाशवदेव ॥१८॥

**अन्वय**—अयं विपश्चित न जायते (न) वा म्रियते । अयं कुतश्चित् न बभूव (अयं) कश्चित् न (बभूव) । अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः अयं शरीरे हन्यमाने न हन्यते ॥१८॥

**शब्दार्थ**—विपश्चित् = नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा । कुतश्चित् = कारण से । कश्चित् = कोई दूसरी वस्तु । अजः = अजन्मा । शाश्वत = अपक्षय शून्य सदा एक रस रहने वाला । पुराणः = क्षय और वृद्धि से रहित अर्थात् पहले और आज दोनों समय नवीन है । हन्यते = नाश नहीं किया जाता है ।

**अनुवाद**—नित्य चैतन्य रूप आत्मा न जन्म ग्रहण करता है, न मरता है । यह आत्मा किसी (कारण) से नहीं (उत्पन्न) हुआ, (कारणाभाववाला होने से) कोई (दूसरी वस्तु, इस आत्मा से उत्पन्न) नहीं हुई । (अतः) अजन्मा नित्य,

शाश्वत, पुरातन यह (आत्मा) (शस्त्रादिद्वारा) शरीर के मारे जाने पर (निरवयव होने के कारण) नहीं मारा जाता है ॥१८॥

**व्याख्या**—यह आत्मा विपश्चित् अर्थात् मेधावी है । नित्य चैतन्य रूप होने से यह ज्ञ है । इसीलिए यह ज्ञानस्वरूप है । सम्पूर्ण संसार किसी न किसी कारण से उत्पन्न हुआ है । इस आत्मा का कोई कारण नहीं है । अनादि है । कारणवाले पदार्थ अनित्य होते हैं । इसलिए कारणाभाव के होने से यह नित्य है । यह आत्मा अपरिणामी है क्योंकि इससे किसी अर्थवस्तु की उत्पत्ति नहीं हुई है । इससे यह सिद्ध होता है कि न इसका कोई कारण है न कार्य । अतः यह अज आत्मा नित्य अर्थात् त्रिकाल पर्यन्त रहने वाला है । इसमें किसी प्रकार का अपक्षय नहीं होता है अतः शाश्वत है । यह पुरातन है अर्थात् पहले और आज दोनों अवस्था में नूतन ही है, किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई है । उपाधि के नष्ट होने पर इस आत्मा का नाश नहीं होता है । यदि शस्त्रादि के द्वारा शरीर का नाश किया जाय तो देहादिसंघात का नाश होता है, आत्मा का नहीं क्योंकि यह निरवयव है ।[1]

**हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्यते हतम् ।**
**उभौ तौ न विजानीतो नायंहन्ति न हन्यते ॥१९॥**

**शा० भा०**—एवं भूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनम् इति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहमित्युभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव । अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य । श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥१९॥

**अन्वय**—चेत् हन्ता (आत्मान) हन्तुं मन्यते, चेत् हतः (आत्मानं) हतं मन्यते, उभौ तौ (आत्मानं) न विजानीतः । अयम् (आत्मा) न हन्ति, न हन्यते ॥१९॥

**शब्दार्थ**—हन्ता = हनन करने वाला । न विजानीतः नहीं जानते हैं ।

---

१. तु० न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं "'गीता २।२०

**अनुवाद**—यदि हनन करने वाला (आत्मा को) मारने में (अपने को समर्थ) मानता है (और) यदि मारा जाने वाला (व्यक्ति, आत्मा को) मारा हुआ मानता है (तो) वे दोनों (हन्ता और हत) आत्मा को नहीं जानते हैं। यह (आत्मा) न मारता है, न न मारा जाता है[१] ॥१९॥

**व्याख्या**—यमराज आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए कह रहे हैं कि जब तक साधक आत्मा के स्वरूप को नहीं समझ लेता है, तब तक उसे न भोग से वैराग्य नहीं हो सकता; न शरीर आदि के मोह का नाश नहीं हो सकता है।

वस्तुत: हनन क्रिया आत्मा का धर्म नहीं है। आत्मा में कर्तृत्व नहीं है। इसलिए वह किसी का हन्ता नहीं है। उसी प्रकार आत्मा का भी हनन नहीं होता क्योंकि यह आकाश की भाँति अवयव से रहित है। इसलिए हनन क्रिया का विषय शरीर संघात होता है, निरवयव आत्मा नहीं।

मूढ़ लोग शरीर या बुद्धि के धर्म को आत्मा पर अरोपित कर लेते हैं, इसीलिए आत्मा को हनन आदि क्रिया का कर्ता मान लेते हैं। हनन क्रिया का विषय शरीर होता है। वे इस धर्म को आत्मा पर आरोपित कर लेते हैं। इसलिए भयभीत होते है। वस्तुत: ऐसे व्यक्ति अज्ञानी हैं। उन्हें भ्रम है। भ्रम सदा असद् वस्तु का प्रतिपादन करता है। अतः आत्मा निष्क्रिय है।[२] कर्तृत्वादि धर्म आत्मा के नहीं है। यह आत्मा विकार स्वभाव वाला नहीं है। विकार शरीर आदि के धर्म हैं। इसलिए विद्वान शरीर के विकार को देखकर मोहित नहीं होता है ॥१९॥

**सम्बन्ध**—आत्मतत्त्व की सूक्ष्मता का प्रतिपादन किया जा रहा है—

---

१. य यनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ गी० २।१९ ॥

२. "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" श्वेताश्व० उ० ६।१९

**अणोरणीयान् महतो महीया—**
**नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।**
**तमक्रतुः पश्यति वीतशोको**
**धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥**

**शा० भा०**—कथं पुनरात्मानं जानातीत्युच्यते—अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः । महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरः पृथिव्यादेः । अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवात्मना नित्येन आत्मवत् सम्भवति । तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्सस्पद्यते । तस्मादसावेवात्माणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तूपाधिकत्वात् । स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थितः इत्यर्थः । तमात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्गमक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः । यदा चैवं तदा मनआदीनि करणानि धावतः शरीरस्य धारणात् प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययमहमस्मीति साक्षाद्विजानाति । ततो वीतशोको भवति ॥ २० ॥

**अन्वय**—अस्य जन्तोः गुहायम् निहितः आत्मा अणोः अणीयान् महतः महीयान् । अक्रतुः आत्मनः तम् महिमानं पश्यति । (ततः) वीतशोकः भवति ॥२०॥

**शब्दार्थ**—जन्तोः = ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त प्राणिसमूह के । गुहायाम् = बुद्धि या हृदय में । अणोः अणीयान् = सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अक्रतुः = दृष्ट और श्रुत विषयों की कामनाओं से शून्य । धातुप्रसादात् = (१)देह के धारक होने से मन आदि करण धातु हैं और उनका प्रसाद (अर्थात् मन आदि करण के निर्मल हो जाने) से । (२) धातु (ब्रह्म)[1] के प्रसाद (अनुग्रह) से । महिमानं = महिमा अर्थात् कर्मनिमित्त से होने वाले वृद्धि-क्षयादि रहित को । पश्यतिः = साक्षात् जानता है ।

**अनुवाद**—ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त प्राणिसमूह अथवा इस जीव के हृदय (या

---

१. "अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमम्" वि० सहस्र० "धातु" भगवान का एक नाम है ।

बुद्धि) में, अणु से भी सूक्ष, महत्तत्व (आकशादि) से भी महाद् आत्मा स्थित है। निष्काम पुरुष परब्रह्म की अनुकम्पा (अथवा मन आदि अंत:करण के निर्मल) हो जाने पर (इस परम तत्त्व) आत्मा की महिमा (नित्यता, शाश्वतता, अनादिता आदि ) को देखता ( जानता ) है। (इसके पश्चात् वह) शोकरहित हो जाता है ॥२०॥

**व्याख्या**—परमाणु सबसे सूक्ष्म अंश हैं। मिट्टी के ढेले को यदि तोड़ते चले जायँ तो एक ऐसी स्थिति आयेगी कि उस ढेले के एक अंश का विभाजन नहीं किया जा सकता है। यही अपकर्ष की सीमा सत्त्वादिगुण विशेष ही परमाणु हैं।[१] परमात्मा इस परमाणु से भी सूक्ष्म है। परमाणु सावयव है क्योंकि दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। परमात्म तत्त्व निरवयव होने से अणु से भी सूक्ष्म है। यह सूक्ष्म आत्मा परमाणुओं का नियन्त्रक है।

आकाश परममहत् परिमाण वाला[3] है। परमात्म तत्त्व इस परम महत् आकाश से भी महान् है क्योंकि इस आकाश का भी वह कारण है।[४] इसी अक्षर ब्रह्म में आकाश ओत-प्रोत[५] है। इसलिए वह महत् आकाशादि से भी महान् है। उस प्रकार का परमात्म तत्त्व जीव के हृदय में निहित है। माया या अज्ञान केकारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

उपासक जब दृष्ट और श्रुत विषयों की कामनाओं का परित्याग कर देता

---

१. यथा लोष्टादेर्भिद्यमानस्य यस्मिन्नवयवे परिमाणापकर्षकाष्ठा सोऽपकर्षावधिः सत्त्वादिगुणविशेषः परमाणुः यो० वार्त्तिक ३।५२

३. विभु चाकाशम्। परममहत्परिमाणमित्यर्थः" तर्क भा० पृ० २६८ वदरीनाथ शुक्ल।

४. "एतस्मादात्मना आकाशः सम्भूतः।" तैत्तिरीयो० २।१।

५. खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।" वृ० उ० ३।८।११

× ×

"आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः" वृ० उ० ४।४।२०

है तब उसका अन्तः कारण निर्मल हो जाता है[1] बुद्धि के निर्मल होने पर सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है और बुद्धि स्थिर हो जाती है।[2] अतः उपासक निर्मल बुद्धि से परमात्मा की महिमा[3]—उसकी नित्यता, बृद्धि और ह्रास का न होना, सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता ज्ञानस्वरूपता आदि—का साक्षात्कारकर लेता है। बुद्धि जब तक विषय वासना में फँसी रहती है तब तक व्यक्ति अपने को ही सर्वज्ञ समझता रहता है। बुद्धि की निर्मलता के द्वारा ही आत्मा की महिमा जानी जाती है।

अथवा परमात्मा की जब कृपा होती है तभी उसकी महिमा ज्ञान होता है उसकी महिमा जान लेने पर साधक शोक अर्थात् जन्म-मरण के कष्ट से मुक्त हो जाता है ॥२०॥

**संबंध**—उपाधिभेद से नानारूप वाले विरुद्धधर्मों से युक्त होकर अनेक रूप में भासित होने के कारण आत्मा को विवक—शून्य व्यक्ति नहीं समझ पाता है। इसका प्रतिपादन कर रहे हैं—

**आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।**
**कस्तं मदादं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥**

**शा० भा०**—अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन्दूरं व्रजति। शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवान-

१. रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ गी० २।६४।

२. प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ गी० २।६५।

३. नित्यो महिमा ब्रह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् बृ० उ० ४।४।२३।

४. तस्मात्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्। गी० १८।६२

× × ×

'मत्प्रसादात्तरिष्यसि।' गी० १८। ५७

तोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तुं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ? अस्मादादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्धधर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते । अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयत्ति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हंतीत्ति । करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्योपशमः शयानस्य भवति । यदा चैवं केवलसामन्यविज्ञानत्वात्सर्वतो यातीव यद विशेषविज्ञानस्थ स्वेन रूपेण स्थित एव सन्मनआदिगतिषु तदुपाधिकत्वादूरं व्रजतीव । स चेहैव वर्तते ॥२१॥

**अन्वय**—आसीनः दूरम् व्रजति । शयानः सर्वतः याति । तं मदामदम् देवं मत् अन्यः कः ज्ञातुम् अर्हति ॥२१॥

**शब्दार्थ**—आसीनः = बैठ हुआ । (अचल होकर) शयानः = सोता हुआ । मदामदद् = ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त न होने वाले अथवा हर्ष से युक्त तथा हर्ष से युक्त तथा हर्ष से रहित । अर्हति = समर्थ है ।

**अनुवाद**—बैठा हुआ (अर्थात् अचल रहता हुआ भी वह परमात्मा) दूर तक जाता है । शयन करता हुआ सब ओर जाता है । हर्ष से युक्त (और) हर्ष से रहित अथवा ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त न होने वाले देव को मेरे अतिरिक्त कौन जानने में समर्थ हो सकता है ॥२१॥

**व्याख्या**—आतमा विभु होने से सर्वव्यापी है । अचल रहकर भी दूर गमन करता है । जाग्रत और स्वप्नावस्था में मन आदि व्यापार का साक्षी होने से स्थित होकर दूर गमन करता है । मन आदि में सम्पूर्ण विषयों की प्रतीति होती है । आत्मा उसका साक्षी है । इसलिए अनन्त वेग वाले मन के दूर गमन करने से आत्मा भी स्थित रहकर दूर तक जाती है । आत्म तत्त्व स्वतः गतिमान् नहीं होता है । मन आदि प्रतिबिम्बित होकर ही विषय देश में गमन करता है । इसलिए कहा गया है कि स्थित होकर दूर तक गमन करता है । जैसे एक स्थान पर बैठा हुआ शासक अपने शासन तन्त्रों के द्वारा पूरे देश की बातों को जानकर

दूर तक गमन करता रहता है उसी प्रकार आत्मा में भी गमन क्रिया नहीं होती है। अन्तःकरण का गमन ही उसका दूर तक का गमन है।

शयन करने पर भी सर्वत्र गमन करता है। सुषुप्तावस्था में मनुष्य किसी भी भोग की कामना नहीं करता और किसी भी स्वप्न को नहीं देखता है।[1] ऐसी स्थिति में वह सर्वत्र गमन कैसे कर सकता है?

वस्तुतः सुषुप्तावस्था में सम्पूर्ण मन आदि इन्द्रियाँ विलीन हो जाती हैं। आत्मा अपने कारण-अवस्था को प्राप्त हो जाता है। सम्पूर्ण प्रपञ्च उसी में विलीन हो जाता है और वह प्रकाश-मुख से आनन्द का भोग करता है। जैसे सरिता के जल और कुम्भ के जल में केवल कुम्भ की सत्ता बाधक बनी हुई रहती है कुम्भ के फूट जाने के बाद घट का जल सर्वत्र गमन करने वाला सरिता का जल हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा व्यापक है। संसार के कण-कण में उसकी गति है। कलुषित मन आदि अन्तःकरणों के कारण सभी वस्तुओं का साक्षात्कार नहीं हो पाता, नहीं तो आत्मा के व्यापक होने से सभी वस्तुओं का साक्षात्कार होता रहता। सुषुप्ति में मन आदि इन्द्रियाँ विलीन हो जातीं हैं। इसलिए आनन्द का भोक्ता ज्ञान स्वरूप आत्मा सर्वत्र गमन करता है।

अथवा सुषुप्ति की अवस्था में पूरा प्रपञ्च उसी में विलीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह सर्वमय हो जाता है। अतः शयन की अवस्था में सर्वत्र गमन करता है।

अथवा सुषुप्तावस्था में ज्ञानसामान्य[2] रूप से स्थित होने के कारण सर्वत्र गमन करता है। क्योंकि सुषुप्ति में विशेष ज्ञान का अभाव हो जाता[3] है।

---

१. यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।
—माण्डूक्योपनिषद् ५

२. "ज्ञानसामान्यरूपेणावस्थानात् सर्वतो यादि।"—कठोपनि० मणिप्रभा पृ०४८

३. सुप्ते तु विशेषविज्ञानाभावस्य विवक्षितत्वात्। शा० भा० बृ० उ० २।१।१९

अथवा परमात्म तत्त्व सर्वत्र व्यापक है, इसलिए सर्वत्र उसकी गति है। यदि शयन के समय उसकी गति-हीनता मानलें तो सर्वव्यापकता में दोष आ जायेगा। इसलिए शयन के स्थान पर गति भी होने से सर्वत्र गमन करने वाला है।

वह आत्म तत्त्व मद से युक्त रहने वाला है। अर्थात् बुद्धि आदि संघात से तादात्म्य होने के कारण विद्या—एश्वर्यादि धन से मद युक्त हो जाता है। हर्ष से रहित है। जब बुद्धि आदि अन्तःकरण से उसका अध्यास हो जाता है तो वह आत्म तत्त्व भी हर्ष-युक्त हो जाता है।

अथवा वह धनादि ऐश्वर्य के हर्ष से हर्षित होने वाला नहीं है। वह तो स्वतः आनन्द स्वरूप है। जिसमें आनन्द का अभाव है वह आनन्द के कारण की प्राप्ति से हर्षित होता है। आनन्द स्वरूप आत्मा के हर्षित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

यमराज नचिकेता से कह रहा है कि इस प्रकार के विरोधी धर्म वाले आत्म तत्त्व को मैं ही जानता हूँ। दूसरे देवता नहीं जानते हैं।

यमराज के कहने का आशय यह है कि आत्मा के विरोधी धर्मों को देखकर भ्रमित नहीं होना चाहिए। वह सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है। विभिन्न उपाधियों के कारण विरोधी धर्मों का केवल भ्रम होता है। आत्मा में किसी प्रकार का भ्रम नहीं है। उसे ज्ञानी ही अपनी सूक्ष्म बुद्धि से समझ सकता है, अन्य नहीं ॥२१॥

संबंध—आत्म विज्ञान के फल का प्रतिपादन किया जा रहा है—

**अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।**
**महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥**

**शा० भा०**—तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति-अशरीरं स्वेन रूपेण आकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादिशरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत्, महान्तं महत्त्व-

स्यापेक्षिकत्वशङ्कायामाह—विभुं व्यापिनमात्मानम् आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम्, आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वा अयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति। न ह्येवंविधस्य आत्मविदः शोकोपपत्तिः ॥२२॥

**अन्वय**—धीरः, अनवस्थेषु शरीरेषु अशरीरम् अवस्थितम् महान्तम् विभुम् आत्मानम् मत्वा न शोचति ॥२२॥

**शब्दार्थ**—अनवस्थेषु = स्थिर न रहने वाले अनित्य। अशरीरम् = शरीर रहित। महान्तम् = महान्, विभुम् = सर्वव्यापी।

**अनुवाद**—विवेकी पुरुष अनित्य शरीरों में, शरीर-रहित, अवस्थित (अविचाली भाव से स्थित) महान् सर्वव्यापक आत्मा को जानकर शोक नहीं करता है ॥२२॥

**व्याख्या**—सभी जीव के शरीर अनित्य और विनाशशील हैं। इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता हैं। ऐसे देव, पितृ, मनुष्यादि के अनित्य शरीर में जिस आत्मा की सत्ता रहती है, वह आत्मा शरीर-रहित है। अर्थात् आत्मा कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर से रहित है। यह आत्मा अवस्थित है। त्रिकाल में इसका बाध नहीं होता। यह नित्यों का नित्य है, चेतन है।[1] कारणादि तीनों शरीर का साक्षी होकर शरीर में स्थित है।

यह महत्परिमाण वाला है। आपेक्षिक महत् परिमाण वाला नहीं है वरन् परममहत्परिमाण वाला है। इससे महान कोई अन्य तत्त्व नहीं है। इसलिए इसे विभु = व्यापक बताया गया है। ऐसे चेतन आत्मा को जानकर अर्थात् उसका साक्षात्कार कर सद्-असद् का विवेकी पुरुष शोक नहीं करता है अर्थात् शोक के कारण अज्ञान के नष्ट हो जाने पर कर्तृत्वादि रूप बन्धन से रहित हो जाता है ॥२२॥

---

१. "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्"—श्वेताश्व० ६।१३।

**संबंध**—आत्मानुसन्धान के बिना वेदाध्ययनादि साधन समूह निष्फल है। अतः मुमुक्षु को आत्मानुसन्धान के लिए प्रयत्न करना चाहिए—

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो**
**न मेधया न बहुना श्रुतेन।**
**यमेवैष वृणुते तेन लभ्य**
**तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्[1] ॥२३॥**

**शा०भा०**—यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह-नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थ-धारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते-यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानम् एव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः। कथं लभ्यत इत्युच्यते—तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यमित्यर्थः ॥२३॥

**अन्वय**—अयम् आत्मा न प्रवचनेन, न मेधया, न बहुना श्रुतेन लभ्यः। एषः यम् वृणुते, तेन एव लभ्यः। एषः आत्मा तस्य स्वां तनूं विवृणुते ॥२३॥

**शब्दार्थ**—प्रवचनेन = अनेक वेद के अध्ययन से। मेधया = ग्रंथ धारण की शक्ति से। श्रुतेन = गुरूपदेशरहित अनेक शास्त्रों के श्रवण से। तनूम् = यथार्थ रूप को। विवृणुते = प्रकट कर देता है।

**अनुवाद**—यह आत्मा (जिसे तुम जानना चाहते हो) न वेदाध्ययन से, न (ग्रंथधारणशक्ति रूप) बुद्धि या मेधा से, न (विना गुरूपदेश के शास्त्रों के) बहुत अध्ययन से (ही) प्राप्त हो सकता है। यह (मुमुक्षु) जिस (आत्मा) का वरण करता है, उसी (अभेदज्ञानवाले) के द्वारा ही प्राप्य है (अन्य देवतादि के उपासक के द्वारा नहीं, अथवा यह (परमात्मा आचार्य में स्थित होकर) जिस (अधिकारी

---

१. यह मन्त्र मुण्डकोपनिषद ३।२।३ में भी पठित है।

शिष्य पर) अनुग्रह करता है उसी के द्वारा (वह आत्मा) प्राप्य है । यह आत्म-तत्त्व) उस (साधक) के लिए अपने यथार्थ (आनन्दात्मक) स्वरूप को प्रकट कर देता है ॥२३॥

**व्याख्या**—यह आत्मा उसी को प्राप्त होता हैं, जो गुरु की शरण में जाकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्मा का वरण करता है । जिसमें मुमुक्षा होती है, वही अपने सम्पूर्ण जीवन को इस आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में समर्पित कर देता है । जब उसकी द्वैत बुद्धि समाप्त हो जाती है, तभी साधक प्रपञ्च और अपने को ब्रह्म से भिन्न नहीं समझता है, तभी उसे आत्मा का साक्षात्कार होता है ।

अथवा गुरु रूप में परमात्मा जिस उत्तम अधिकारी पर अनुकम्पा करता है अर्थात् उसकी वुद्धि को निर्मल बना देता है, अपनी माया का आवरण उसके अन्तःकरण से हटा लेता है, तब वह आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है ।

इस आत्मा को केवल वेदाध्ययन के अभिमान से नहीं जाना जा सकता है । श्वेतकेतु वेदाध्ययन से आत्मतत्त्व को नहीं जान सका था ।[१] वेदादि के मंत्रों को जानने वाला शोक-समुद्र का संतरण नहीं करता है, वरन् आत्मवेत्ता[२] ही । मेधा-अभ्यास से ग्रंथ धारण की बुद्धि या तर्क से भी आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह आत्मा अतर्क्य[3] हैं । इसी प्रकार जिसने गुरु के उपदेश के बिना ही उपनिषदादि के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों का श्रवण कर लिया है, वह भी इस आत्मतत्त्व को नहीं जान पाता है क्योंकि अपरा विद्या के

---

१. सर्वान् वेदानधीत्य महामना····। तं ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सौम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥ छा० उ० ६।१।२

२. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदं···· । विद्यामेतत् भगवोऽध्येमि । सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव····तरति शोकात्मविदिति । छा० उ० ७।१।२३ ।

३. 'अतर्क्यमणुप्रमाणात्, कठोप १।२।८ ।

द्वारा आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है, वरन् परा विद्या[1] के द्वारा ही। इसलिए शास्त्रों का श्रवण आत्म-साक्षात्कार का उपाय नहीं है।[2]

अतः आत्मतत्त्व उसी को प्राप्त होता है जो इसका अनुसन्धान करता है। उस साधक के लिए आत्मा अपने स्वरूप को स्पष्ट कर देता है। साधक आत्मा के सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप का साक्षात् करता है। साधक की दृष्टि दिव्य हो जाती है। वह अर्जुन की भाँति परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर आश्चर्यचकित हो जाता है। अतः परमात्मतत्त्व की अनन्य[3] भक्ति से उसके वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए॥२३॥

**संबंध**—शम दमादि साधन से युक्त पुरुष को आत्मा की प्राप्ति होती है, इससे अन्य व्यक्ति को नहीं—

**नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।**
**नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥**

**शा० भा०**—किं चान्यत्—न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धात् श्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्मणोऽविरतः अनुपरतो नापीन्द्रियलौल्याद् अशान्तोऽनुपरतो नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः, समाहितचित्तोऽपि सन्समाधानफलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो व्यापृतचित्तः प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात्। यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

---

१. तत्रापरा ऋग्वेदः यजुर्वेदः····व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषममिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ मुण्डको० १।१।५।

२. न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ गी० ११।४८।

३. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ गी० ११।५४।

**अन्वय**—न दुश्चरितात् अविरतः, न अशान्तः, न असमाहितः न वा अशांतमानसः एनं प्रज्ञानेन अपि आप्नुयात् ॥२४॥

**शब्दार्थ**—अविरतः = निवृत्त न हुआ हो। असमाहितः = चञ्चल मन वाला। अशान्तमानसः = जिसकी इन्द्रियाँ तो वश में है किन्तु मन पूर्ण रूप से विरक्त नहीं है। प्रज्ञानेन = सूक्ष्म बुद्धि (ब्रह्म विज्ञान) के द्वारा।

**अनुवाद**—जो पाप कर्म से विरत नहीं है, जिसकी इंद्रियाँ चञ्चल हैं, जिसका मन एकाग्र नहीं हैं, तथा जिसका मन पूर्ण रूप से समाहित नहीं है, वह सूक्ष्मबुद्धि (ब्रह्मज्ञान) के द्वारा भी इस (आत्मा) को नहीं प्राप्त कर सकता है ॥२४॥

**व्याख्या**—आत्मा को प्राप्त करने के लिए केवल ब्रह्मज्ञान ही आवश्यक नहीं है अर्थात् जिसने गुरु के द्वारा केवल ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लिया है, और जो पापादि दुष्कर्मों से अपने मन को विरत नहीं कर सका है, वह स्वप्न में भी आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता है।

जो दुश्चरित हैं अर्थात् श्रुति-स्मृति विहित पाप-कर्म से विरत नहीं हैं, असत्य, हिंसा, चौर कर्मादि में सुरत हैं उनकी इन्द्रियाँ सर्वदा बहिर्मुख रहती हैं। इसलिए अन्तर में रहने वाली आत्मा का साक्षात्कार कर नहीं सकते हैं। पाप-कर्म में रत व्यक्ति तो अशुभ योनि को प्राप्त होते[1] हैं, आत्मा की प्राप्ति की बात तो दूर है।

जिनकी इन्द्रियाँ विषय-वासनाओं की ओर दौड़ती रहती हैं, वे अशांत कभी भी आत्मा की प्राप्ति नहीं कर सकते क्योंकि विषयों का ध्यान करने वाला चित्त

---

१. च इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। छा० उ० ५।१०।७।

× ×

"ऋतस्य पन्थां न तरति दुष्कृतः"

निरन्तर विषयों में ही लगा रहता[1] है। इसी प्रकार जिनका मन समाहित नहीं है अर्थात् एक ही ध्येय आत्मा के ध्यान में सांसारिक विषयों का भी ध्यान करता है, वह भी आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता। जो अशान्त मनवाला है अर्थात् इन्द्रियों को रोक रक्खा है किन्तु मन से विषयों का स्मरण करता रहता है[2] अथवा मन समाहित होकर भी अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति की अभिलाषा[3] करता रहता है ऐसे अशान्त मन वाले व्यक्ति आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि ऐसे लोगों का मन पूर्ण रूप से आत्मा की प्राप्ति के लिए सर्मपित नहीं रहता है। इनका मन सांसारिक विषयों की भी अभिलाषा करता रहता है। इसलिए पापों से विरत होकर मन से विषय-वासनाओं का परित्याग कर तथा सम्प्रज्ञात समाधि से प्राप्त होने वाले अणिमादि ऐश्वर्य को ठुकराकर जो ब्रह्मज्ञान से आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है वही आत्मा को प्राप्त कर सकता है ॥ २४॥

**सम्बन्ध**—वह परमतत्त्व परमशक्ति सम्पन्न है, इसलिए उसे जानने के लिए उत्कृष्ट साधना की आवश्यकता है—

---

१. "विषयान् ध्यायतश्चित्त विषयेषु विषज्जते ॥ श्रीमद्भा० पु० ११।४।२७।

× ×

"तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्" कठोप० २।१।१

२. कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचर. स उच्यते ॥ गी० ३।६

३. "समाहितचित्तोऽपि सन्समाधानफलार्थित्वात्" शां भा० कठो० १।२।२४

× ×

समाहितचित्तोऽपि सन् समाधिफलादणिमादिलक्षणादनिवृत्तमनाश्च
मणि प्रभा कठो० १।२।२४

४. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मये हि शुभ्रो यं पश्यति यतयः क्षीणदोषाः ॥ मु० उ० ३।१।५

**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।**
**मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥**

**शा० भा०**—यस्त्वनेवं भूतः–यस्यात्मनो ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मविधारकेऽपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम्, सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनम् इवौदनस्य, अशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन् क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥ २५ ॥

**अन्वयः**—यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे ओदनः भवतः, यस्य मृत्युः उपसेचनम्, (भवति) स यत्र (स्थितः तत्) इत्था कः वेद ॥ २५ ॥

**शब्दार्थ**—यस्य = जिस आत्मा का (तमः प्रधानमायोपाधिक ईश्वर का) ब्रह्म = सर्वधर्मधारक ब्राह्मण । उपसेचनम् = शाकसूपादि । इत्था = जिस रूप में है अथवा जैसा मैं जानता हूँ । वेद = जानता है ।

**अनुवाद**—(संहार-काल में) जिस आत्मा के (सर्वधर्मधारक) ब्राह्मण तथा (सभी के त्राता) क्षत्रिय (तथा उपलक्षण से सम्पूर्ण चराचर) ओदन (भात) बन जाते हैं; मृत्यु जिस (आत्मा) का उपसेचन (दाल, शाकादि) बन जाता है, वह जहाँ है—उसे कौन (साधारणजन) इस प्रकार यथोक्त साधनयुक्त अधिकारी की भाँति, अथवा, जैसा परमात्मा है, जान सकता है ? ॥ २५ ॥

**व्याख्या**—संहार-काल में तमः प्रधानमायोपाधिक ईश्वर सम्पूर्ण चराचर को अपने में विलीन कर लेता है, सभी धर्मों के धारक, तथा तपस्वी होने के कारण ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं । क्षत्रिय संसार का रक्षक है । वह दूसरे आततायी को मारकर संसार की रक्षा करता है किन्तु सृष्टि के ये दोनों शक्तिशाली जीव परमात्मा के ओदन बन जाते हैं तो अन्य तुच्छ चराचर की क्या बात है ? सबका संहार करने वाला यम भी ईश्वर के भोज्य ओदन का सहायक सब्जी या दाल बन जाता है । सबकी शक्ति को नष्ट करने वाले की भी शक्ति नष्ट हो

जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है। जो मनुष्य अथवा देव अपने को शक्ति-सम्पन्न मानता है, वह अज्ञ है।

वह ईश्वर शुद्ध स्वरूप में जहाँ स्थित है और जिस स्वरूप में है उसे केवल मैं जानता हूँ और दूसरा कोई नहीं नहीं जानता है। अथवा जिस रूप में मेरे द्वारा वह ईश्वर ज्ञात है, दूसरा कोई नहीं जानता है। अतः उस ईश्वर को अच्छी प्रकार मैं ही तुम्हें बता सकता हूँ, दूसरा कोई नहीं ॥ २५ ॥

द्वितीयवल्ली समाप्त हुई।

# तृतीया वल्ली

**सम्बन्ध**—आत्मतत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन करने के पश्चात् उसे प्राप्त करने के साधनों का वर्णन करने के लिए तृतीय वल्ली प्रारम्भ कर रहे हैं।

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा और परमात्मा के नित्य सम्बन्ध और उसके निवास स्थान का प्रतिपादन कर रहे हैं—

**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके**
**गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।**
**छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति**
**पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥**

**शा० भा०**—ऋतं सत्यमवश्यम्भावित्वात्। कर्मफलं पिबन्तौ, एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः तथापि पातृसंवंधात्पिबन्तावित्युच्यते छत्रिन्यायेन सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतमिति पूर्वेण सन्बन्धः। लोकेऽस्मिन् शरीरे गुहां गुहायां बुद्धौ प्रबिष्टौ, परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमं, परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्धम्। तस्मिन्हि पथं ब्रह्मोपलभ्यते, अतस्तस्मिन्परमे परार्धे हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः। तौ च छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति। न केवलमकर्मिण एव वदन्ति, पञ्चाग्नयो गृहस्था ये च त्रिणाचिकेताः त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

**अन्वय**—ब्रह्मविदः ये च पञ्चाग्नय, (ये च) त्रिणाचिकेताः (ते) सुकृतस्य ऋतं पिबन्तौ लोके गुहां परमे परार्धे प्रविष्टौ छायातपौ वदन्ति ॥ १ ॥

**शब्दार्थ**—ब्रह्मविदः = ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुष। पञ्चागयः = पञ्चाग्नि (१) गार्हपत्य (२) दक्षिण (३) आवहनीय (४) सभ्य (५) आवसथ्य) सम्पन्न गृहस्थ।

सुकृतस्य = स्वयंकृत कर्मों के (आचार्य शंकर) अथवा शुभ कर्मों के फलस्वरूप। ऋतं[1] = अवश्यम्भावी होने के कारण सत्य को। गुहां प्रविष्टौ = बुद्धि (या हृदय) में प्रविष्ट। छायातपौ = छाया और धूप की भाँति (अर्थात् संसारी और असंसारी रूप में)। लोके = इस शरीर में। परार्धे = पर (ब्रह्म) के अर्ध (स्थान) में।

**अन्वय**—ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महापुरुष, (वे) जो पञ्चाग्नि (गार्हपत्य, दक्षिण, आवहनीय, सभ्य और आवसथ्य) की उपासना करने वाले गृहस्थ (हैं), और (वे) जो तीन बार नाचिकेता अग्नि के चयन करने वाले (हैं), कहते हैं (कि) अपने कर्म के सत्य फलों को भोगने वाले, (मनुष्य के) शरीर में बुद्धि रूपी गुहा के भीतर परब्रह्म के उत्कृष्ट निवासस्थान (हार्दाकाश = हृदयाकाश) में प्रविष्ट छाया और धूप (की भाँति आत्मा और परमात्मा हैं)।। १ ।।

**व्याख्या**—ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुष, पञ्चाग्नि की उपासना करने वाले गृहस्थ और तीन बार नाचिकेता अग्नि का चयन करने वाले यही कहते हैं कि मनुष्य के हृदय में जीवात्मा और परमात्मा का निवास है।

ब्रह्मवेत्ता के कहने का आशय यह है कि जिन्होंने कर्म-फलों की कामना का परित्याग कर दिया है ऐसे ब्रह्म-दर्शी की बात प्रामाणिक होगी। गृहस्थ लोग गार्ह्यपत्यादि पञ्चाग्नियों की उपासना करते हैं। अथवा पञ्चाग्नि का तात्वर्य द्यु, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री में अग्नि दृष्टि से हवन करने वाले[2] पुरुष से है। वे आत्मा के रहस्य को जानते हैं। नाचिकेत अग्नि के चयन करने वाले भी आत्मतत्त्व को जानते हैं अतः इन तीनों के अनुभव एक होने से प्रामाणिक है। इनका कहना है कि मनुष्य की बुद्धि के भीतर ब्रह्म का उत्कृष्ट निवास स्थान हृदय[3] है। जैसे किवाड़ खुलने के पश्चात् ही उसके भीतर की वस्तु का

---

१. "ऋतं सत्यमवश्यम्भावित्वात्" शा० भा० कठोपनि १।३।१
ऋतम्भरेति.........अन्वर्था सा, सत्यमेव बिभर्ति ॥ या०-व्या०-भा० १।४८

२ द्रष्टव्य—छा० उ० पञ्चाहुति प्रकरणम् अध्याय ५।५

३. "स वा एष आत्मा हृदि" छा० उ० ८।३।३

साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार बुद्धि के निर्मल होने पर ही उसके भीतर रहने वाले परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस उत्कृष्ट स्थान-हृदयाकाश में जीव और परमात्मा स्वयं किये गये सत्य कर्मों के फलों को भोगते हैं। ऋत का अर्थ सत्य है। अर्थात् स्वयंकृत कर्मों को फल अवश्यम्भावी होने के कारण सत्य है। दोनों तत्त्व इस सत्य कर्म-फलों का भोग करते रहते हैं। वस्तुतः कर्म के फलों का भोक्ता जीवात्मा ही है।[1] छत्रिन्यास[2] से परमात्मा को भी कर्म-फलों का भोक्ता बताया गया है। परमात्मा तो असङ्ग होने के कारण कर्म-फलों से असम्पृक्त रहता है।

वे दोनों छाया और धूप की भाँति रहते हैं। छाया का प्रकाश अल्प होता और धूप का प्रकाश तेज होता है। परमात्मा परम प्रकाशवान् है और भयोपहित होने के कारण जीव (प्राश) कम प्रकाश वाला है। अथवा धूप अर्थात् सूर्य जब तक रहता है तभी तक छाया रहती है। परमात्मा के अस्तित्व से ही जीव का अस्तित्व है। अथवा जैसे सूर्य के, बादल के तुकड़े से ढँक जाने के पश्चात् धूप और छाया दोनों की प्रतीती होती है, उसी प्रकार अज्ञान से आवृत ब्रह्म जीव-रूप में प्रतीत होकर हृदय में साथ-साथ निवास करते हैं। अथवा छाया और धप दोनों विरोधी धर्म हैं। जीव के भोक्तृत्व और परमात्मा के भोक्तृत्व राहित्य में धिरोध है। दोनों विरीधी रूप में हृदयाकश में रहते हैं।

इस रहस्य को अच्छी प्रकार समझकर व्यक्ति को अभिमान शून्य होकर परमात्म तत्त्व को जानने का सतत प्रयास करना चाहिन ॥ १ ॥

**सम्बन्ध**--परमात्म तत्त्व को जानने के लिए परमात्मा की अनुकम्पा आवश्यक है। इसलिए उसे जानने के लिए उन्हीं से प्रार्थना की जा रही है--

---

१. तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो चाकशीति मु० उ० ३-१
२. वहुत से जाने वाले लोगों में अधिकांश के पास यदि छाता है, कुछ के पास न हो तो भी कहा जाता है "छाते वाले जा रहे हैं।"

**यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।**
**अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥२॥**

**शा० भा०**—यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसन्तरणार्थत्वान्नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः । किं च यच्चाभयं भयशून्यं संसारपारं तितीर्षतां ततुंमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः । परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः । एतयोरेव ह्युपन्यासकृतं ऋतं पिवन्ताविति ॥ २ ॥

**अन्वय**—यः ईजानानाम् सेतुः (तं) नाचिकेतं पारम् तितीर्षताम् यत् अभयम् (तत्) अक्षरम् परम् ब्रह्म शकेमहि ॥ २ ॥

**शब्दार्थ**—ईजानानाम् = यज्ञ करने वालों के लिए । सेतुः = दुःख-समुद्र को पार करने के उपाय । पारम् तितीर्षताम् = संसार-समुद्र से पार होने की इच्छा वालों के लिए । अक्षर = जो नष्ट नहीं होता है अर्थात् विकार-रहित । शकेमहि = जानने में समर्थ हों ।

**अनुवाद**—जो यज्ञ करने वालों के लिए सेतु (अर्थात् दुःख-समुद्र से पार करने लिए उपाय) है, उस नाचिकेत अग्नि को तथा संसार-समुद्र को) पार करने की इच्छा वालों के लिए जो भयरहित (पद) है, उस अक्षर (अर्थात् अविनाशी) ब्रह्म को (जानने में हम) समर्थ हों ॥ २ ॥

**व्याख्या**—यमराज ने नाचिकेत अग्नि और अक्षर ब्रह्म को जानने की कामना की है । नाचिकेत अग्नि यज्ञ करने वालों के लिए वह सेतु है, जिसके द्वारा दुःख-समुद्र से मुक्ति मिल सकती है । यज्ञों से स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है । यद्यपि स्वर्ग-फल अविनाशी नहीं है फिर भी चिर काल तक दुःखों को दूर करने वाला है । इसके द्वारा व्यक्ति अपर ब्रह्म को प्राप्त कर चिरकाल तक दुःखमुक्त रह सकता है ।

परब्रह्म शुद्ध और अविनाशी है । यह संसार समुद्र-संतरण की उत्कट अभि-

लाषा रखने वालों के लिए निर्भय पद है। यहाँ किसी प्रकार का (दैहिक, दैविक और भौतिक दुखों का) भय नहीं रहता है। अक्षर ब्रह्म की ही प्राप्ति मोक्ष है। इसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिनतम कार्य हैं। इसलिए पहले नाचिकेत अग्नि को जानने की बात कही गई है, ताकि व्यक्ति कर्मों का न्यास न करे। जो कर्म-मार्ग में लगे रहते हैं, वे ही ज्ञान-मार्ग की ओर बढ़ते हैं और इसके द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते है।

अतः हम भी इन मार्गों को ईश्वर की कृपा से अथवा अपने उत्साह और प्रयत्न से जान सकें ॥ २ ॥

**सम्बन्ध**—कर्मफल-भोक्ता जीव परमात्म तत्त्व को प्रकार प्राप्त करे। इसके लिए रथ और रथी के रूपक की कल्पना की जा रही है—

**आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।**
**बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनःप्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥**

**शा० भा०**—तत्रात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य। बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य सारथिनेतृप्रधान इव रथः। सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण। मनः सङ्कल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि। मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः ॥३॥

**अन्वय**—(हे नचिकेतः!) आत्मानं रथिनं विद्धि। शरीरम् तु रथम् एव (विद्धि)। बुद्धिं तु सारथिं (विद्धि)। मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

**शब्दार्थ**—आत्मानम् = जीवात्मा को। रथिनम् = रथ का स्वामी। विद्धि = समझो। बुद्धि = निश्चयात्मिका अन्तःकरण की वृत्ति। मन = संकल्प—विकल्पात्मक अंतःकरण का व्यापार। प्रग्रह = लगाम।

**अनुवाद**—(हे नचिकेता! कर्म फलों के भोक्ता) जीव को रथी (रथ के

द्वारा संसार और मोक्ष के लक्ष्य की ओर जाने वाला रथ का स्वामी समझो। (अपने) शरीर को रथ (गति का साधन) समझ लो। (अध्यवसाय रूपा) बुद्धि को (शरीर रूप रथ को ले जाने वाला) सारथी समझो। तथा (संकल्प विकल्पात्मक) मन को (इन्द्रियों को वश में करने वाला) लगाम समझो।। ३ ।।

**व्याख्या**--संसार में हम देखते हैं कि रथ के द्वारा व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। इस संसार के दो लक्ष्य स्थान हैं। एक है विषयों का भोग, दूसरा है मोक्ष की प्राप्ति। साधारण जन सांसारिक विषय-भोग की ओर गमन करते हैं किन्तु विवेकी पुरुष मोक्ष की ओर। दोनों लक्ष्य तक पहुँचने का साधन शरीर है, जिसे रथ बताया गया है। इस रथ का स्वामी कर्म-फलों का भोक्ता जीवात्मा है। इस रथ का सारथी बुद्धि है और लगाम मन है।

रथ को रथी नहीं चलाता, वह उस पर बैठा रहता है। रथ नश्वर और संघात है। शरीर भी नश्वर और भौतिक तत्त्वों का संघात है। इस शरीर रूपी रथ का स्वामी निष्क्रिय है। रथ को चलाने वाले सारथी के वश में रथ और रथी है। इस शरीर रूपी रथ को गन्तव्य की ओर ले जाने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि सारथी है। मन लगाम है। जैसे सारथी लगाम के द्वारा घोड़ों को वश में करता है, उसी प्रकार बुद्धि अत्यन्त चञ्चल[1] तथा बन्धन और मोक्ष के कारण[2] संकल्पात्मक विकल्पात्मक मन को वश में करती है। यदि बुद्धि निर्मल रहती है तो मन उसके अधीन रहता है, यदि वह भ्रष्ट रहती है तो मन रूपी लगाम अनियंत्रित हो जाता है और रथ और रथी दोनों का पतन हो जाता है।

जैसे विना सारथी के रथ नहीं चलता है, उसी प्रकार बिना बुद्धि के शरीर

---

१. "चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम्" गीता ६।३४

२. "मन एव मनुष्याणां वन्धन कारणमोक्षयोः" वि० पु० ६।७।२८

× ×

"मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्"

श्रीमद् भा० पु० ११।२३।४३

क्रियावान् नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्तृत्वादि धर्म आत्मा के नहीं, बुद्धि के हैं। रथ को रथी नहीं चलाता क्योंकि वह क्रिया-शून्य है। अतः आत्मा भी निष्क्रिय है। वह कर्तृत्वादि धर्म को अपने पर आरोपित कर लेता है ॥ ३ ॥

**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।**
**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥**

**शा० भा०**—इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयान् आहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात्। तेष्वेव इन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान् रूपादीन् विषयान् विद्धि। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः, न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्। तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृह० उप० ४-३-७) इत्यादि। एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्यात्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥ ४ ॥

**अन्वय**—मनीषिणः इन्द्रियाणि हयान् आहुः। तेषु विषयान् गोचरान् (आहुः) आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् (आत्मानम्) भोक्ता इति आहुः ॥ ४ ॥

**शब्दार्थ**—मनीषिणः = (मन पर शासन करने वाले) विवेकी। विषयान् = रूप रसादि विषयों को। आत्मेन्द्रिय = देह और इन्द्रिय (आत्मा शब्द शरीर का वाचक है)। भोक्ता = सुख और दुःख का अनुभव करने वाला। गोचरान् = प्रचरणमार्ग।

**अनुवाद**—विवेकी पुरुष इन्द्रियों को अश्व कहते हैं। (घोड़ों को विचरने के लिये) (रूप रसादि) विषयों को मार्ग (कहते हैं)। शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को (सुख-दुख का अनुभव करने वाला) भोक्ता कहते हैं ॥ ४ ॥

**व्याख्या**—इस रथ के अश्व इन्द्रियाँ हैं। जैसे घोड़े रथ को खींचते रहते हैं

उसी प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शरीर को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करती रहती हैं।[1] यदि इन्द्रियाँ नष्ट हो जायँ तो शरीर रूपी रथ गति-शून्य हो जाता है। इन इन्द्रिय रूप घोड़ों के विचरण करने के मार्ग रूप, रसादि विषय हैं। जो चित्त को अपने रंग से रग देते हैं, वे विषय कहलाते हैं। रूप रसादि चक्षु आदि के द्वारा चित्त को अपने रँग में रँग देता है। कहने का आशय यह कि ये इन्द्रिय रूपी घोड़े निरन्तर विषयों की ओर भागते रहते हैं। बुद्धि रूपी सारथी मन के लगाम से इन्हें वश में कर गन्तव्य पथ की ओर चलता है।

शरीर इन्द्रिय और मन से युक्त होने वाली जीवात्मा सुख-दुख का भोक्ता कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा में भोक्तृत्व[2] नहीं रहता है। जैसे स्फटिक में जब लाल पुष्प का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब स्फटिक लाल हो जाता है, उसी प्रकार जब शुद्ध आत्मा माया की उपाधि से उपहित हो जाता है, तब व्यक्ति को यह प्रतीत होने लगता है कि यह मेरा शरीर है, यह मेरी इन्द्रियाँ हैं, यह मेरा मन और बुद्धि के भोग को अपना भोग समझने लगता है। जब शरीरादि से आत्मा का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तब वह अपने शुद्ध (सत् चित् आनन्द) रूप को प्राप्त हो जाता है ॥४॥

**संबंध**—संसार और मोक्ष दो प्रकार की गति होती है। इसे बताने के लिए दो प्रकार के सारथी का प्रतिपादन कर रहे हैं—

**यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।**
**तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥**

**शा० भा०**--तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेन अप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति तस्याकुश-

१. जिह्वैकेतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्वयः सपत्नय इव गेहपतिं लुलन्ति ॥
श्रीमद् भा० पु० ९।४०।

२. ध्यायतीव लेलायतीव (बृ० उ० ४-३७)

लस्य बुद्धिसारथेः इन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यानि अशक्यनिवारणानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति ॥ ५ ॥

**अन्वय**—अविज्ञानवान् यः सदा अयुक्तेन मनसा भवति तस्य इन्द्रियाणि सारथेः दुष्टाश्वाइव अवश्यानि (भवन्ति) ।।५।।

**शब्दार्थ**—अविज्ञानवान् = विवेकहीन बुद्धि वाला। अयुक्त = अवशीभूत। अवश्यानि = वश में न रहने वाली।

**अनुवाद**—जो (बुद्धि रूप सारथी) विवेक-शून्य और अवशीभूत मन से (युक्त) होता है, उसकी इन्द्रियाँ (असाधान) सारथी के दुष्ट अश्वों की भाँति वश में न रहने वाली होती हैं ।।५।।

**व्याख्या**—जो व्यक्ति मन का निग्रह न कर इन्द्रियों की बाह्य विषयों की प्रवृत्ति को रोकता नहीं है, वह विवेक-शून्य है। ज्ञान-विज्ञान से तृप्त अन्तःकरण वाला, इन्द्रियजित और स्वर्ण तथा पाषाण को समान समझने वाला व्यक्ति, युक्त कहा जाता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला अयुक्त कहा जाता है। अर्थात् जिसका मन समाहित नहीं है, निरन्तर विषयों की ओर उन्मुख है, ऐसे मन वाले व्यक्ति की इन्द्रियाँ वश में उसी प्रकार नहीं रहती हैं जैसे असावधान सारथी के घोड़े वश में न रहकर हरे-हरे घास के लोभ में पड़कर रथी को गर्त में गिरा देते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कठिनता से नियन्त्रण में रखने योग्य इन्द्रियों को सुबुद्धि के द्वारा नियमित न किया जाय तो ये उसी प्रकार पतन के कारण होती हैं जैसे असावधान सारथी के घोड़े रथी को नष्ट कर देते हैं। इसलिए मन को वश में रखना चाहिए।

**यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।**
**तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ६ ॥**

**शा० भा०**—यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥ ६ ॥

**अन्वय**—विज्ञानवान् यः सदा युक्तेन मनसा भवति, तस्य इन्द्रियाणि सारथेः सदश्वा इव वश्यानि (भवन्ति) ॥६॥

**शब्दार्थ**—युक्त[1] = वश में किए हुए।

**अनुवाद**—(किन्तु) जो (बुद्धि रूपी सारथी) विवेकी और समाहित मन वाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ (सावधान) सारथी के अच्छे अश्वों की भाँति वश में होती हैं।

**व्याख्या**—जो विवेकी हैं अर्थात् मन-निग्रह के द्वारा विषयों की ओर प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियों को वश में करके सद्-असद् की विवेचना करते हैं ऐसा विवेकी युक्त = समाहित मन वाला होता है। विषयों के प्रति इसकी आसक्ति नहीं रहती है। उसकी इन्द्रियाँ उसके अधीन उसी प्रकार रहती हैं जैसे सावधान सारथी के शिक्षित अश्व उसके वश से रहते हैं। वश में रहने वाले अश्वों के द्वारा रथी सारथी के सहयोग से अपने गन्तव्य स्थल तक पहुँचने में सफल हो जाता है। जिसकी बुद्धि निर्मल होती है, वह समाहित मन से इन्द्रियों को रूप रसादि विषयों की ओर जाने से रोकता है और शीघ्र ही बिना किसी बाधा के अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच जाता है। इसलिए मन को समाहित करने का प्रयास करना चाहिए ॥६॥

**संबंध**—असंयमी और संयमी की क्या गति होती है? इसका प्रतिपादन किया जा रहा है—

**यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।**
**न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥**

**शा० भा०**—यस्त्वविज्ञानवान्भवति अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत एवाशुचिः सदैव, न स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदम् आप्नोति तेन सारथिना। न केवलं कैवल्यं नाप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥ ७ ॥

---

१. ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ गी० ६।८।

**अन्वय**—यस्तु अविज्ञानवान् अमनस्कः सदा अशुचिः भवति, सः तत्पदं न आप्नोति संसारं च अधिगच्छति ॥७॥

**शब्दार्थ**—अमनस्कः = असमाहित चित्त वाला ।

**अनुवाद**—जो अविवेकी असमाहित चित्त वाला और सदा अपवित्र रहता है, वह (रथी) उस (अक्षर ब्रह्म) को नहीं प्राप्त करता है अपितु (जन्ममरण रूप) संसार को प्राप्त होता है ।

**व्याख्या**—जो अविवेकी है, जिसका बुद्धि रूपी सारथी मोहग्रस्त है, वह सर्वदा असमाहित चित्त वाला रहता है अर्थात् उसका मन इन्द्रियों के अधिकार में रहता है तथा जिस-जिस विषय की ओर इन्द्रियाँ आकृष्ट होती है, उसी विषय के भोग के लिए लालायित रहता है और विषय-जन्य दोष से अपवित्र हो जाता है । जैसे दर्पण पर धूलि जम जाने के कारण उसमें मुख नहीं दिखलायी पड़ता है उसी प्रकार विषय-भोग-जन्य पाप से बुद्धि अतिशय मलिन हो जाती है,[1] इसलिए आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता है तथा सर्वदा जन्म-मरण रूप संसार में शूकर-कूकर आदि योनियों में जन्म लेता रहता है ॥७॥

**यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।**
**स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥**

**शा० भा०**—यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान् विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वान् इत्येतत् युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति, यस्मादाप्तात्पदाद् अप्रच्युतः सन् भूयः पुनर्न जायते संसारे॥८॥

**अन्वय**—यः तु विज्ञानवान् समनस्कः सदा शुचिः भवति, सः तु तत्पदम् आप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥८॥

**शब्दार्थ**—समनस्कः = समाहित मन वाला । शुचिः = शुद्ध चित्त वाला ।

**अनुवाद**—जो विज्ञानवान्, एकाग्रचित्त (होकर) सदा पवित्र (आचरण करने

---

१. "नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य" गी० २।६५

वाला) होता है, वह इस (ब्रह्म) पद को प्राप्त करता है, जहाँ से (आकर) वह पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता है ॥८॥

**व्याख्या**—जो पुरुष विवेकी—सद्-असद् की विवेचना करने वाला—होता हैं वह विषयों की ओर भागने वाली इन्द्रियों को मन के द्वारा रोकता है तथा सर्वदा पवित्र आचरण करता है अर्थात् विषय-जन्य दोष से मुक्त रहता है। इसलिए उसकी बुद्धि निर्मल रहती है तथा मन समाहित रहता है। ध्येय ब्रह्म को विषय बनाकर मन एकाग्र रहता है। अतः वह उस अक्षर ब्रह्म-पद को प्राप्त कर परमानन्द को प्राप्त करता है और पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता है ॥८॥

**सम्बन्ध**—रथ रूपक का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

**विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।**
**सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥**

**शा० भा०**—विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान् प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान् सोऽध्वनः संसार-गतेः पारं परमेव अधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसार-बन्धनैः तद्विष्णोः व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यदसौ आप्नोति विद्वान् ॥ ९ ॥

**अन्वय**—यः नरः विज्ञानसारथिः तु मनः प्रग्रहवान् (भवति) सः अध्वनः पारं विष्णोः तद् परमं पदम् आप्नोति ॥ ९ ॥

**शब्दार्थ**—विज्ञानसारथिः = विवेकवती बुद्धि रूपी सारथी से सम्पन्न। मनः प्रग्रहवान् = मन रूपी लगाम को वश में रखने वाला। अध्वनः = संसार-मार्ग के।

**अनुवाद**—जो मनुष्य विवेकशील बुद्धि रूपी सारथी से सम्पन्न (होकर) मन रूपी लगाम (को वश में करने) वाला होता है; वह संसार-मार्ग को पार कर सर्व व्यापी विष्णु के परम पद को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

**व्याख्या**—कुशल सारथी लगाम के द्वारा अश्वों को वश में करके गन्तव्य

स्थान पर रथी को पहुँचा देता है। जो विवेकशील प्राणी सांसारिक सुखों को नश्वर जानकर संसार के जन्म-मरण के कुचक्र से मोक्ष चाहते हैं, वे असद् वस्तु में अपनी बुद्धि को नहीं लगाते। निरन्तर साधना के जल से बुद्धि के कालुष्य को धोकर उसे निर्मल बना देते हैं। बुद्धि के निर्मल हो जाने पर मन उनके वश में हो जाता है। अतः नियंत्रित मन से इन्द्रियों को विषय के महापंक में फँसने नहीं देते।[1] इस प्रकार की साधना जब अनवरत चलती रहती है, ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है और सारे कर्म-बन्धन नष्ट हो जाते हैं। इसलिए साधक संसार के विषम जाल से मुक्त होकर उस सर्वव्यापी वासुदेव के उत्कृष्ट स्थान को प्राप्त कर लेता[2] है। इसके बाद न त्रिकाल में पुण्य क्षीण होने पर देवताओं की भाँति जन्म-ग्रहण करना पड़ता है, न अविवेकी पुरुष की भाँति अनेक योनि में चक्कर लगाना पड़ता है।

इसलिए व्यापक विष्णु के उस अक्षय परम पद को प्राप्त करने के लिए सतत प्रयास करते रहना चाहिए जिसे विद्वान सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं[3] ॥ ९ ॥

**सम्बन्ध**—विष्णु के परम पद की चर्चा की गई है। उस पद की सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन करने के लिए सापेक्षिक उत्कृष्ट-परम्परा का कथन कर रहे हैं—

**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।**
**मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परा ॥ १० ॥**

---

१. विषयेभ्यस्समाहृत्य विज्ञानात्मा मनो मुनिः।
चिन्तयेन्मुक्तये तेन ब्रह्मभूतं परमेश्वरम् ॥ वि० पु० ६।७।२९

२. अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ गी० ८।२१

३. यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम्। अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम् विभुं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिकारणम्। व्याप्यव्याप्तं यतः सर्वं यद्वै पश्यन्ति सूरयः। तद् ब्रह्म तत्परं धाम तद्ध्येयं मोक्षकांक्षिभिः। श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परम् ॥ वि० पु० ६।५।६६-६८।

**शा० भा०**—स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनाय आरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च । तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः । मनः शब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं सङ्कल्पविकल्पाद्या-रम्भकत्वात् । मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिः बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम् । बुद्धेरात्मा सर्वप्राणि-बुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान् सर्वमहत्वात् । अव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥ १० ॥

**अन्वय**—इन्द्रियेभ्यः परा अर्थाः हि । अर्थेभ्यः च परं मनः । मनसः तु पर बुद्धिः । बुद्धेः परः महान् आत्मा ॥ १० ॥

**शब्दार्थ**—परा = उत्कृष्ट । अर्थाः—रूपरसादि विषय बुद्धि । महान् आत्मा = समष्टि बुद्धिः ।

**अनुवाद**—(श्रोत्रादि) इन्द्रियों से (उनके शब्दादि) विषय श्रेष्ठ (या सूक्ष्म) हैं । विषयों से श्रेष्ठ (या सूक्ष्म) मन है । मन से श्रेष्ठ (या सूक्ष्म) (व्यष्टि) बुद्धि है । (इस) बुद्धि से श्रेष्ठ (या सूक्ष्म) महान् आत्मा अर्थात् समष्टि बुद्धि (अथवा आत्मा या हिरण्यगर्भ) है ।। १० ॥

**व्याख्या**—इन्द्रियों को अश्व के रूप में बताया गया है । श्रोत्रादि इन्द्रियाँ निरन्तर विषयों की ओर दौड़ती रहती हैं । अर्थ अर्थात् रूप रसादि विषयों के अधीन इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है । जितेन्द्रिय भी विषयों की ओर भागने लगता है । इसलिए इन्द्रियों से श्रेष्ठ विषय को बताया गया है । इन्द्रिय रूपी अश्व रूप रसादि विषयों की ओर दौड़ते रहते[1] हैं, अतः इन्द्रियों से श्रेष्ठ विषयों की

---

१. इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ गी० २।६७

निस्सारता को जानकर उनकी ओर भागने वाली इन्द्रियों को वश में करना चाहिए।

इन विषयों से संकल्प विकल्प लक्षण वाला मन श्रेष्ठ है। मन को लगाम के रूप बताया गया है। लगाम जैसे दुष्ट घोड़ों को भी नियंत्रित कर लेता है, उसी प्रकार मन यदि नियंत्रित रहता है तो इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं भागती हैं। विषयों का भोग या ज्ञान मन के अधीन है। मन के अन्यत्र रहने पर सामने के विषयों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए विषयों से मन को उत्कृष्ट बताया गया है। यदि उत्कृष्ट लगाम को अनियंत्रित छोड़ दिया जाय तो घोड़े मार्ग को छोड़कर इधर-उधर भागने लगेंगे। इसी प्रकार मन के अनियंत्रित रहने पर इन्द्रियाँ निरन्तर विषयों के समुद्र में डुबकी लगाती रहती हैं। अतः उत्कृष्ट मन को सर्वदा नियंत्रित करते रहना चाहिए। क्योंकि इसी मन के अधीन सभी विषय रहते हैं।[1]

इस मन से श्रेष्ठ, निश्चय लक्षण वाली बुद्धि है जिसे सारथी रूप में बताया गया है। यदि रथ पर सारथी न हो तो रथ गन्तव्य स्थान पर नहीं जा सकता है। यदि प्रमत्त सारथी हो तो रथ और रथी निश्चय ही गर्त में गिर जायेंगे। सारथी लगाम को अपने हाथ में लेकर घोड़ों को अपने वश में रखता है, तभी रथ गन्तव्य स्थान पर पहुँच पाता है। इसी प्रकार निश्चयात्मिका बुद्धि यदि मन को अपने नियंत्रण में रखती हैं तो रथी आत्मा, शरीर के द्वारा, परमात्मा तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

इस बुद्धि से सूक्ष्म महान् आत्मा हिरण्यगर्भ है क्योंकि परम अव्यक्त से उसी की प्रथम उत्पत्ति होती है। अथवा इस व्यष्टि बुद्धि से समष्टि बुद्धि स्वरूप महत्तत्व श्रेष्ठ है, क्योंकि उसी समष्टि बुद्धि का एक अंश व्यष्टि बुद्धि है। अंश

---

१. "मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
श्रीमद्भा० पु० ११।२३।४८

से अंशी उत्कृष्ट होता है। अथवा इस बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा[1] है क्योंकि वह शरीर रूपी रथ पर आसीन है, उसे रथी के रूप में वर्णित किया गया है। बिना रथी के रथ तथा सारथी आदि का कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए इस उत्कृष्ट रथी जीवात्मा को जानने का प्रयास करना जाहिए ॥ १० ॥

**महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।**
**पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥**

**शा० भा०**—महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यागात्मभूतं सर्वमहत्तरं च अव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतम् अव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपम् अव्यक्ताव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः। तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणकारणत्वात् प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च अत एव पुरुषः सर्वपूरणात् ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह-पुरुषान्न परं किञ्चिदिति। यस्मान्नास्ति पुरुषात् चिन्मात्रघनात्परं किञ्चिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात् सूक्ष्मत्वमहत्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठापर्यवसानम्। अत्र हीन्द्रियेभ्य आरम्भ सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः। अत एव च गन्तॄणां सर्वगतिमतां संसारिणां परा प्रकृष्टा गतिः—"यद् गत्वा न निवर्तन्ते" [गीता ८।२१; १५।६] इति स्मृतेः ॥ ११ ॥

**अन्वय**—महतः परम् अव्यक्तम्। अव्यक्तात् परः पुरुषः। पुरुषात् परं न किञ्चित्। सा काष्ठा सा परा गति ॥ ११ ॥

**शब्दार्थ**—अव्यक्त = मूल प्रकृति या माया[2]। पुरुषः = आत्मा या परमात्मा। काष्ठा = विश्रन्ति-भूमि या सीमा। गति = प्राप्ति; गन्तव्यफलस्वरूपा प्राप्ति।

---

१. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ गी० ३।४२॥

× × × ×

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।

२. सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ कठोप० २।३।७
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेताश्व० ४।४।१०

**अनुवाद**—महत् से अव्यक्त (मूल प्रकृति) श्रेष्ठ है। अव्यक्त से पुरुष (आत्मा या परमात्मा) श्रेष्ठ हैं। पुरुष से पर कुछ (कोई तत्त्व) नहीं है। (क्योंकि) वही (पुरुष) पराकाष्ठा (विश्रान्ति-भूमि है और) वही पुरुष) परम गति (गन्तव्य स्थान) है ॥ ११ ॥

**व्याख्या**—इस महत् से भी उत्कृष्ट परमेश्वर की शक्ति माया या मूल प्रकृति हैं, जिसे अव्यक्त कहा गया है। इस शक्ति में सभी कार्य-कारण की शक्ति उस प्रकार समाहित है जैसे सूक्ष्म वट-बीज में महान् वट-वृक्ष की शक्ति। यही अव्यक्त रूप माया अखिल प्रपञ्च का सृजन करती है[1] तथा आत्मा को अपने रूप से ढँक देती है। इसलिए महत् = समष्टि बुद्धि; आत्मा या हिरण्यगर्भ से उत्कृष्ट है।

अथवा इस महत् = आत्मा—जिसे रथी के रूप में बताया गया है—से अव्यक्त = शरीर श्रेष्ठ है क्योंकि इसी शरीर रूप से ही गन्तव्य स्थान को प्राप्त किया जा सकता है। शरीर नश्वर होते हुए भी परममोक्ष प्राप्ति का साधन[2] होने के कारण आत्मा से भी श्रेष्ठ है। इस शरीर को प्राप्त करने के लिए देवता भी लालालित रहते हैं।[3] जो व्यक्ति ऐसे दुर्लभ शरीर को पाकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं करते, वे वस्तुतः आत्मघाती हैं।[4]

---

१. "अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति" गी० ८।१८

२. "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्" श्रीमद्भा० पु० ११।२०।१६

× × ×

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुस्मिन्।
न यद्धृषीकेशयशः कृतात्मनां महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥
श्रीमद्भा० पु० ५।१३।२१

३. अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपथिकं स्पृहा हि नः ॥
श्रीमद्भा० पु० ५।१९।२१

४. "पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।" श्रीमद्भा० पु० ५।२०।१७

इस अव्यक्त से श्रेष्ठ पुरुष है जो सम्पूर्ण चराचर को प्रकाशित करता हुआ सर्वत्र व्याप्त है। यह पुरुष व्यापक और अलिङ्ग है।[1] इस पुरुष से श्रेष्ठ या सूक्ष्म कोई अन्य तत्त्व नहीं है क्योंकि यही पुरुष सभी सूक्ष्म वस्तुओं की विश्रान्ति-भूमि है। इसी पुरुष में सम्पूर्ण चराचर ओत-प्रोत है।[2]

इसी पुरुष में सभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं की समाप्ति हो जाती है, इसलिए वही परमात्मा सभी वस्तुओं की पराकाष्ठा है और यही परमात्मा गन्तव्य होने से परागति[3] है जहाँ मन सहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं, बुद्धि किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती हैं और सभी कामनाओं की परिसमाप्ति हो जाती है ॥ ११ ॥

**सम्बन्ध**--सम्पूर्ण कार्यकारणों के कारण आत्मा के भानाभान के हेतु का प्रतिपादन कर रहे हैं—

**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते ।**
**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥**

**शा०भा०**—एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माविद्यामायाच्छन्नोऽत एवात्मा न प्रकाशते आत्मत्वेन कस्यचित्। अहो अतिगम्भीरा दुरवगाहा विचित्रा माया चेयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येव बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्तनुच्यमानोऽपि गृह्णाति। नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोकः बम्भ्रमतीति। तथा च स्मरणम्–"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गीता ७।२५) इत्यादि।

---

१. "अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।" कठोप० २।३।८

२. मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ गी० ७।७

३. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ कठोपनि० २।३।१०

ननु विरुद्धमिदमुच्यते "मत्वा धीरो न शोचति" (कठो० २।१।४) "न प्रकाशते" (कठो० १।३।१२) इति च। नैतदेवम्। असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम्। दृश्यते तु संस्कृतया अग्रया अग्रमिव अग्रया तया, एकाग्रतयोपेतत्, सूक्ष्मया सूक्ष्मववस्तुनिरूपणपरया; कैः ? सूक्ष्मदर्शिभिः।

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था" इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत्॥१२।

**अन्वय**—सर्वेषु भूतेषु गूढ एष आत्मा न प्रकाशते। सूक्ष्मदर्शिभिः तु अग्रचा सूक्ष्मया बुद्धचा दृश्यते ॥ १२ ॥

**शब्दार्थ**—गूढ = अविद्याच्छन्न। प्रकाशते = आत्मत्व रूप में प्रतीति नहीं होती है। सूक्ष्मदर्शिभिः = केवल सूक्ष्म तत्त्व का साक्षात्कार करने वालों के द्वारा। अग्रचया = एकाग्रता से।

**अनुवाद**—(ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त) सभी प्राणियों में (स्थित हुआ भी) अविद्या से आच्छादित यह प्रत्यक् चैतन्य रूप आत्मा (सभी के द्वारा आनन्दस्वरूप रूप में) प्रकाशित नहीं होता है। केवल सूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार करने वाले (पण्डितों) के द्वारा एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा (इस आत्मा का) साक्षात्कार किया जाता है ॥ १२ ॥

**व्याख्या**—यह आत्मा इन्द्रियादि वस्तुओं से अत्यन्त सूक्ष्म है। चींटी से लेकर ब्रह्मास्तम्ब पर्यन्त सभी प्राणियों में स्थित है किन्तु अविद्या से आच्छन्न है।[1] इसीलिए संसार के सभी वस्तुओं से समीप हृदय-देश में रहता हुआ भी प्रकाशित नहीं होता है। जीवात्मा इसे नहीं जानता कि यह तत्त्व सभी जड़ और चेतन से श्रेष्ठ और आनन्द स्वरूप है। वस्तुतः परमेश्वर की माया विचित्र[2] है। इस माया के वशीभूत होकर जीव देहादि संघातों को सर्वश्रेष्ठ मानकर इसी

१. "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" श्वेताश्व० ६।६।११
२. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" गी० ७।१४

को प्राप्त करने के लिए जीवन-पर्यन्त प्रयास करता रहता है। इसलिए व्यक्ति सभी भूतों के कारण आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता हैं।[1]

इसके विपरीत जो सूक्ष्मदर्शी हैं अर्थात् जिन्होंने यह विचार कर "इन्द्रियों से अर्थ सूक्ष्म हैं, अर्थों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से पुरुष सूक्ष्म है" पुरुष-आत्मा की अपेक्षा सभी स्थूल तत्त्व और उनसे होने वाले समग्र फलों का परित्याग कर दिया है तथा जो केवल परमात्मा के साक्षात्कार में रत हैं, ऐसे पण्डितों के द्वारा जब साधना की जाती है, तब उनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल हो जाती है। इस सूक्ष्म और एकाग्र रहने वाली बुद्धि के द्वारा सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार किया जाता है ॥१३॥

**संबध**—बुद्धि की एकाग्रता के बिना सूक्ष्म परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। अतः बुद्धि को सूक्ष्म तथा एकाग्र करने के उपाय को बताया जा रहा है—

**यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।**
**ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥१३॥**

**शा० भा०**—यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी, किम्? वाग्वाचम्। वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम्। क्व? मनसी। मनसीतिच्छान्दसम् दैर्घ्यम्। तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धौ आत्मनि। बुद्धिर्हि मनआदिकरणान्यप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक् तेषाम्। ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महती प्रथमजे नियच्छेत्। प्रथमजवत् स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानम् आपादयेदित्यर्थः। तं च महान्तम् आत्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्य आत्मनि ॥१३॥

---

१. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ गी० ७।१२

× ×

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" गी० ७।२५

**अन्वय**—प्राज्ञः वाक् मनसी यच्छेत् । तत् (मनः) ज्ञाने आत्मनि यच्छेत् । ज्ञानं महती आत्मनि नियच्छेत् । तत् (महत्) शान्ते आत्मनि यच्छेत् ॥१३॥

**शब्दार्थ**—प्राज्ञः = विवेकी । वाक् = वाणी (आदि समस्त इन्द्रियों के) मनसी = मन में । यच्छेत् = निरुद्ध करे । ज्ञाने आत्मनि = ज्ञानस्वरूप बुद्धि में । महति आत्मनि = समष्टि बुद्धि या आत्मा में । शान्ते आत्मनि = शान्त स्वरूप परमात्मा में । यच्छेत् = विलीन कर दे ।

**अनुवाद**—विवेकी (पुरुष) वाक् (आदि समस्त इन्द्रियों) को मन में निरुद्ध करे । उस मन को ज्ञानस्वरूप बुद्धि में विलीन करे । ज्ञानस्वरूप बुद्धि को महान् आत्मा या समष्टि बुद्धि में विलीन कर दे (और) उस महत् को शान्त आत्मा में विलीन कर दे ॥१३॥

**व्याख्या**—मन को एकाग्र करने के लिए सर्वप्रथम स्थूल रूप का चिन्तन करना चाहिये । इसके पश्चात् शनैः शनैः सूक्ष्म तत्त्वों में मन को स्थिर करने का प्रयास करना चाहिए ।[1] इस मंत्र में स्थूल से सूक्ष्म तत्त्वों के साक्षात्कार की बात कही गई है ।

जो प्राज्ञ अर्थात् आत्मा के जिज्ञासु हैं उन्हें वाणी आदिसम्पूर्ण इन्द्रियों को मन में विलीन कर देना चाहिये । इन्द्रियाँ विषयों की ओर भागती रहती हैं । इसलिए इन इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन के अधीन कर दे अर्थात् सभी इन्द्रियों को विषयों से हटा ले । यदि एक भी इन्द्रिय विषय की ओर जाती है तो प्रज्ञा नष्ट हो जाती है ।[2] इसल्लिए सभी इन्द्रियों को मन में विलीन कर देने से केवल मन का संकल्पात्मक और विकल्पात्मक व्यापार होगा, इन्द्रियों का कोई व्यापार नहीं होगा । ऐसी स्थिति में विषय विवेकी को पतन की ओर नहीं ले जा सकते ।

---

१. स्थित्यर्थं मनसः पूर्वम् स्थूलरूपं विचिन्तयेत् ।
तत्र तन्निश्लीभूतं सूक्ष्मेऽपि स्थिरतां व्रजेत् ॥ गरुड़ पु० १।२२७।३३

२. इन्द्रियाणां हि सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् । तेनास्य द्रवते प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् । मनुस्मृति ।

इन्द्रियों को मन में विलीन करने के पश्चात् मन को ज्ञानस्वरूप निश्चय लक्षण वाली बुद्धि में विलीन कर दे। मन से वद्धि सूक्ष्म है। इस व्यष्टि बुद्धि में मन जब विलीन हो जाता है तब उसकी चञ्चलता समाप्त हो जाती है केवल एक ध्येयाकार निश्चयात्मिका वृत्ति बनी रहती हैं। इसके पश्चात् व्यष्टि बुद्धि को समद्धि बुद्धि स्वरूप प्रकाशात्मक महत् तत्त्व में विलीन कर दे। जैसे अधिकांश नदियों को अपने में विलीन करने वाली गंगा समुद्र में विलीन होकर समुद्रकार हो जाती है, उसी प्रकार व्यष्टि बुद्धि समष्टि बुद्धि स्वरूप महत् तत्त्व मे विलीन होकर व्यष्टिगत सत्ता से पृथक् होकर समष्टिगत ज्ञानस्वरूप को प्राप्त हो जाती हैं।

अथवा बुद्धि महान् प्रकाश स्वरूप आत्मा में विलीन होकर आत्माकार उसी प्रकार हो जाती है जैसे लवण का टुकड़ा पानी में मिलकर पानी के आकार का हो जाता है। इसके पश्चात् महत् को परम आत्मा—जो अखिल चराचर का कारण है--में विलीन कर दे। यह आत्मा शान्त और निष्क्रिय है। इसमें विलीन कर देने से परम शान्ति की प्राप्ति होती है।

यद्यपि प्रत्येक सूक्ष्म तत्त्वों के साक्षात्कार से भिन्न-भिन्न फलों की प्राप्ति होती है। तथापि जो विवेकी होता है वह परमात्मा का ही साक्षात्कार कर परम शान्ति को प्राप्त करता[1] है ॥ १३ ॥

**सम्बन्ध**—परमात्मा के स्वरूप और उसे प्राप्त करने के साधनों को बता कर माता के समान हितकारिणी श्रुति मनुष्यों को सावधान करती हुई कह रही है—

**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**
**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया**
**दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥**

---

१. दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकाश्च शतं। पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः। बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः। पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः। निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते॥ वायु पुराण

**शा० भा०**—अनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत हे जन्तवः ! आत्मज्ञानाभिमुखा भवत । जाग्रतज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत । कथम् ? प्राप्योपगम्य वरान् प्रकृष्टानाचार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत । न ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पयन्नाह मातृवत् । अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य । किमिव सूक्ष्मबुद्धिरित्युच्यते । क्षुरस्य धाराग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्या सा दुरत्यया । यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसम्पाद्यमित्येतत् पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति । ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्त्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसम्पाद्यत्वं वदन्तीऽत्यभिप्रायः ।। १४ ।।

**अन्वय**—(हे अधिकारणो जनाः !) उत्तिष्ठत, जाग्रत, वरान् प्राप्य निबोधत । कवयः क्षुरस्य निशिता दुरत्यया धारा (इव) तत् पथः दुर्गं वदन्ति ।।१४।।

**शब्दार्थ**—उत्तिष्ठत = (ज्ञान के लिए) उठो (अर्थात् प्रयत्न करो) वरान् = श्रेष्ठ मनुष्यों (ब्रह्मवेत्ता आचार्यों) को । निबोधत = आत्मतत्त्व को जानो । निशिता = तीक्ष्ण की हुई । दुरत्यया = दुस्तर । दुर्गम् = कठिन ।

**अनुबाद**—(हे ब्रह्म-ज्ञान के अधिकारी मनुष्यों !) उठो (अर्थात् आत्म-ज्ञान के लिए प्रयत्न करो ।) (अज्ञान की निद्रा का परित्याग कर) जग जाओ । श्रेष्ठ मनुष्यों (अर्थात् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यों) के पास जाकर (उनके द्वारा उपदिष्ट आत्म-ज्ञान को) प्राप्त करो । कवि गण (अर्थात् आत्मवेत्ता) कहते हैं कि (शाण पर) तीक्ष्ण की गई छुरे की दुस्तर धार (की भाँति) वह (ज्ञान का) मार्ग दुर्ग अर्थात् कठिनता से प्राप्त करने के योग्य है ।। १४ ।।

**व्याख्या**—भगवती श्रुति मनुष्यों के कल्याण के लिए कह रही हैं कि हे मनुष्यों ! बहुत योनियों में आहार-मैथुनादि की प्रगाढ़ निद्रा में सो चुके हो, अब मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है, इसलिए इस अज्ञान-निद्रा का परित्याग कर उठ जाओ अर्थात् आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करो । इसके लिए श्रोत्रिय

और ब्रह्मनिष्ठ गुरुओं को ढूँढना पड़ेगा क्योंकि वे अच्छी प्रकार आत्म-ज्ञान देने में समर्थ हो सकते हैं। श्रोत्रिय, ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं करा सकता और केवल ब्रह्मनिष्ठ, उपदेश नहीं दे सकता। इसलिए योग्य गुरुओं के पास जाकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्म-ज्ञान को अच्छी प्रकार प्राप्त करो। यह आत्म-ज्ञान असमाहित चित्त वाला व्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है। क्योंकि यह ज्ञान का मार्ग शाण पर तेज की गई छुरे की भाँति दुर्गम है। जैसे छुरे की धार पर चलना कठिन है उसी प्रकार ज्ञान-मार्ग पर चलना कठिन है। इसे प्राप्त करने के लिए कठिनतम साधना की आवश्यकता पड़ती है। यह ज्ञान जितना पवित्र[1] है उतना ही प्राप्त करने में कठिन है क्योंकि अनेक जन्मों में प्राप्त होता है।[2] श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करते हैं।[3] इस ज्ञान को विना आचार्यों की सेवा से नहीं प्राप्त किया जा सकता है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दुर्बोध है। इस ज्ञान को जान लेने के बाद कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता है।

**सम्बन्ध**—ज्ञान-मार्ग क्यों कठिन है? इस जिज्ञासा पर रूपादि रहित सूक्ष्म आत्मतत्त्व की सूक्ष्मता का वर्णन कर रहे हैं—

**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।**
**अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ १५॥**

**शा० भा०**—अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् एतद् व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम्—यद्धि शब्दादिमत्तद् व्येतीदं तु अशब्दादिमत्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यम् यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न व्येत्यतो नित्यम्। इतश्च नित्यम् अनाद्यविद्यमान आदिः कारणम् अस्य तदिदमनादि। यद्धयादिमत्तत्कार्यत्वादनित्यं कारणे

१. "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" गीता ५।३८
२. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यन्ते।
वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ गी० ७।१९
३. "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः॥ गी० ५।३९

प्रलीयते यथा पृथिव्यादि । इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यत्वान्नित्यम् । न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयेत ।

तथानन्तम् अविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम् । यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेन अपि अनित्यत्वं दृष्टं न च तथाप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणः; अतोऽपि नित्यम् ।

महतो महत्तत्वाद् बुद्ध्याख्यात्परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्वभूतात्मत्वाद् ब्रह्म । उक्तं हि—"एष सर्वेषु भूतेषु" (कठ० उप० १।३।१२) इत्यादि । ध्रुवं च तटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम् । तदेवम्भूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते विमुच्यते ॥ १५ ॥

**अन्वय**—यत् अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम् अरसम् नित्यम् अगन्धवत् अनादि अनन्तं महतः परं तथा ध्रुवं च तत् निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥१५॥

**शब्दार्थ**—अशब्दम् = शब्द रहित । ध्रुवं = कूटस्थ नित्य । निचाय्य = जानकर ॥ १५ ॥

**अनुवाद**—जो शब्द, स्पर्श और रूप से रहित, अव्यय (अर्थात् अविनाशी) रस तथा गन्ध से शून्य, अनादि, अनन्त महत् (बुद्धि या आत्मा) से श्रेष्ठ तथा ध्रुव (अर्थात् कूटस्थ नित्य है), उस (परमात्म तत्त्व) को जानकर (साधक) मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

**व्याख्या**—मनुष्य उसी वस्तु को सरलतापूर्वक जान सकता है, जहाँ तक उसकी इन्द्रियाँ काम करती हैं । वह आत्मा या परमात्मा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से शून्य है । इसलिए नेत्रादि इन्द्रियाँ तो उसका साक्षात्कार कर नहीं सकती हैं ।[1] इसीलिए वह अव्यय नित्य है । इन्द्रिय-गोचर वस्तु नित्य नहीं होती है । वह अनादि और व्यापक है अतएव महत्-बुद्धि से श्रेष्ठ है । अथवा

१. न तत्र चक्षुर्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो……। केनोप० १।३

परमात्मा होने के कारण आत्मा से भी सूक्ष्म है। वह कूटस्थ नित्य है। इसलिए इस आत्मतत्त्व को जानना छुरे की धारा पर चलना है। जो साधक इस कार्य-कारण—रहित ब्रह्म को जान लेता है, वह मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है अर्थात् परमात्म तत्त्व को प्राप्त कर पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता है ॥ १५ ॥

**सम्बन्ध**—उस ज्ञान की स्तुति की जा रही है—

**नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तँ सनातनम्।**
**उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥**

**शा० भा०**—नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतम्। मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिदमाख्यानमुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरन्तनं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

**अन्वय**—मेधावी मृत्युप्रोक्तं नाचिकेतम् सनातनम् उपाख्यानम् उक्त्वा श्रुत्वा च ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

**अनुवाद**—बुद्धिमान् पुरुष, मृत्यु के द्वारा कहे गए नचिकेता को प्राप्त (इस) सनातन उपाख्यान को (दूसरों को) सुनकर और (आचार्यादि से स्वयं) सुनकर ब्रह्मलोक में महिमान्वित हो जाता है ॥ १६ ॥

**व्याख्या**—इस उपाख्यान के श्रवण और कीर्तन से साधक शीघ्र ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। इसलिए इसे दूसरे श्रद्धालु को सुनाना चाहिए और गुरुओं से स्वतः सुनना चाहिए ॥ १६ ॥

**सम्बन्ध**—प्रथम अध्याय का उपसंहार कर रहे हैं—

**य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।**
**प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥**
**तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥**

**शा० भा०**—यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद्

ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्रह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद् भुञ्जानानां तच्छ्राद्धमस्यानन्त्यायानन्तफलाय कल्पते सम्पद्यते । द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १७ ॥

**अन्वयः**—यः प्रयतः ब्रह्म-संसदि श्राद्धकाले वा इमं परमं गुह्यं श्रावयेत् तत् आनन्त्याय कल्पते तत् आनन्त्याय कल्पते ॥ १७ ॥

**शब्दार्थ**—ब्रह्मसंसदि = ब्राह्मण (अर्थात् विद्वानों की) सभा में । श्रावयेत् = सुनाता है । प्रायतः = शुद्ध होकर ॥ १७ ॥

**अनुवाद**—जो (कोई मनुष्य) पवित्र होकर (यम-द्वारा उक्त) इस उत्कृष्ट रहस्यमय प्रसङ्ग को ब्राह्मण (अर्थात् विद्वानों) की सभा में अथवा श्राद्धकाल में (भोजन करने वाले ब्राह्मणों को) सुनाता है, (उसका) वह (श्रवण कराना रूप कर्म) अनन्त फल वाला होता है, अनन्तफल से युक्त होता है[1] ॥ १७ ॥

प्रथम अध्याय में तृतीय वल्ली समाप्त ।

प्रथम अध्याय समाप्त ।

---

१. अध्याय की समाप्ति के लिए दो बार कथन किया गया है ।

# द्वितीय अध्याय

## प्रथमा वल्ली

**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।**
**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥**

**शा० भा०**—एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धयेत्युक्तम् । कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्र्याया बुद्धेर्येन तदभावाद् आत्मा न दृश्यत इति तददर्शनकारणप्रदर्शनार्था वल्ल्यारभ्यते । विज्ञाते हि श्रेयः-प्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति—पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति । खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते । यस्मादेवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिंसितवान्हननं कृतवान् इत्यर्थः । कोऽसौ ? स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति । तस्मात्पराङ् पराग्रूपाननात्मभूताञ्शब्दादीन्पश्यत्युपलभत उपलब्धा, नान्तरात्मन्नान्तरात्मानमित्यर्थः । एवंस्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्रोतःप्रवर्तनमिव धीरो धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा । प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन् । व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवात्मशब्दो वर्तते ।

"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ।"

( लिङ्ग० १ । ७० । ९६ )

इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात् ।

तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावमैक्षदपश्यत्पश्यतीत्यर्थः, छन्दसि कालानियमात् । कथं पश्यतीत्युच्यते । आवृत्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रियजातम् अशेषविषयाद्यस्य स आवृत्तचक्षुः स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति । न हि बाह्यविषयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति । किमर्थं पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्य-

गात्मानं पश्यति इत्युच्यते; अमृतत्वममरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन् आत्मन इत्यर्थः ॥ १ ॥

**सम्बन्ध**—प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली में परब्रह्म की व्यापकता का प्रतिपादन किया गया है। परब्रह्म का साक्षात्कार सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही सम्भव है। विरले लोग ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाते हैं।[1] अब यह बताया जा रहा है कि क्यों विरले ही देख पाते हैं ?

**अन्वय**—स्वयंभूः खानि पराञ्चि व्यतृणत्। तस्मात्। ( मनुष्याः ) पराङ् पश्यति, अन्तरात्मन् न। कश्चित् धीरः अमृतत्वम् आवृत्तचक्षुः ( सन् ) प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्।

**शब्दार्थ**—स्वयंभूः = ( किसी कारण-कार्य की अपेक्षा के बिना ) स्वयं प्रकट होने वाले परमेश्वर। खानि = छिद्र ( अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियाँ, ) पराञ्चि = ( पराक् अञ्चन्ति) अर्थात् बाहर की ओर गमन करनेवाली। पराङ् = (शब्दादि) वाह्य विषयों को। व्यतृणत्=हिंसित कर दिया है ( अर्थात् बनायी है )। अन्तरात्मन् = अन्तरात्मा को। आवृत्तचक्षुः = जिसने अपनी इन्द्रियों को ( बाह्य विषयों से) लौटा लिया है। प्रत्यगात्मानम् = अन्तरात्मा को। ऐक्षत् = देखा है।

**अनुवाद**—स्वयं उत्पन्न होनेवाले ब्रह्म ने इन्द्रियों को बाहर ( शब्दादि बाह्य विषयों ) की ओर जानेवाली बनाया है। इसी से ( मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि ) वाह्य विषयों को देखता है। अन्तरात्मा को नहीं। कोई ( विवेकी ) धीरपुरुष ही अमरत्व की इच्छा करता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य-विषयों से लौटाकर अन्तरात्मा को देख पाता है।

**व्याख्या**—परमात्मा स्वतन्त्र है; परतन्त्र नहीं है। इसलिए उसे स्वयंभू कहा जाता है। संसार की सभी वस्तुओं की सत्ता परमेश्वराश्रित है। स्वयंभू परमेश्वर ने मनुष्य की सम्पूर्ण इन्द्रियों को बाहर की ओर गमन करनेवाली बनाया है। यही कारण है कि मनुष्य की इन्द्रियाँ अनात्मभूत शब्द, रूप रसादि विषयों की ओर भागती रहती हैं। ये सर्वदा विषयों के सेवन के लिए लालायित रहती है। जो स्थूल इन्द्रियाँ स्थूल बाह्यविषयों में आसक्त रहती हैं, वे किस प्रकार

१. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ गी० ७।३।

सूक्ष्म आत्मतत्व के साक्षात्कार के लिए प्रवृत्त हो सकती हैं। परमेश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुख इसलिए बनाया है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा विषयों की निस्सारता का सक्षात्कार कर अन्तरात्मा का साक्षात्कार करे, किन्तु विषयासक्त मनुष्य बाह्य विषयों के दलदल में ही फँसे रहते हैं। वे भूलकर भी अन्तर्यामी परमेश्वर को देखने का प्रयास नहीं करते। कोई धीर अर्थात् विवेकी ही विषयों को निस्सार समझकर इन्द्रियों को अपने अधिकार में कर लेता है। जब तक इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से उपरत नहीं हो जातीं, तब तक वह आत्मतत्व का साक्षात्कार नहीं कर सकता है क्योंकि बहिर्गत इन्द्रियों से प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। प्रत्यगात्मा शब्द आत्मा अर्थ में प्रसिद्ध है। इस आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से ही अमरत्व अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। अतएव नित्य आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से मोक्ष को प्राप्त करने के लिए धीर को अपनी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास करना चाहिए ॥१॥

### अविवेकी और विवेकी का अन्तर

**पराचः कामाननुयन्ति बाला-**
**स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।**
**अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा**
**ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥**

**शा० भा०**—यत्तावत्स्वाभाविकं परागेव अनात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वात्। या च पराक्ष्वेवाविद्योपप्रदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्यातृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः—पराचो बहिर्गतानेव कामान् काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति बाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यते बध्यते येन तं पाशं देहेन्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम्। अनवरतजन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। यत एवमथ तस्माद्धीरा विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वं ध्रुवं विदित्वा देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुवमिदं तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (बृ० उ० ४।४।२३) इति ध्रुवम्। तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वा ध्रुवेषु सर्वपदा-

र्थेष्वनित्येषु निर्धाय ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किंचिदपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात्। पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यर्थः ॥२॥

**अन्वय—** (ये) बालाः पराचः कामान् अनुयन्ति ते विततस्य मृत्योः पाशम् यन्ति। अथ धीरा ध्रुवम् अमृतत्वं विदित्वा इह अध्रुवेषु न प्रार्थयन्ते ॥२॥

**शब्दार्थ—** बालाः = मूर्ख, ( अल्पज्ञ )। पराचः = बाह्य। कामान् = भोगों का। अनुयन्ति = अनुसरण करते हैं। विततस्य = फैले हुए। ध्रुवम् = नित्य। अमृतत्वम् = स्वस्वरूपावस्थान ( मोक्ष ) को। अथ = किन्तु। इह = इस संसार में। अध्रुवम् = अनित्य भोगों में।

**अनुवाद—** अल्पज्ञ मनुष्य ( शब्दादि ) बाह्य विषयों के पीछे लगे रहते हैं। ( अतएव ) वे मृत्यु के सर्वत्र फैले हुए पाश ( बन्धन ) में पड़े ( जकड़े हुए ) रहते हैं। परन्तु विवेकी मनुष्य अमरत्व ( मोक्ष ) को नित्य जानकर संसार में अनित्य पदार्थों में से किसी ( भोग पदार्थ ) की इच्छा नहीं करते हैं।

**व्याख्या—** सांसारिक विषयों को नित्य माननेवाला व्यक्ति अल्पज्ञ है। इसलिए उसे बाल कहा जाता है। ऐसे अल्पज्ञ लोग दृष्टादृष्ट शब्दादि काम्य विषयों को परम लक्ष्य मानकर उन्हीं की प्राप्ति और भोग में अपने अमूल्य जीवन को अर्पित कर देते हैं। इसलिए वे सर्वकालव्यापी मृत्यु के विकराल पाश में बँधे रहते हैं तथा निरन्तर अनेक प्रकार की योनियों को प्राप्त होते रहते हैं। इसके विपरीत जो विवेकी व्यक्ति होते हैं वे विषय-भोग के ज्वालामुखी में जलना नहीं चाहते हैं। उनकी दृष्टि में सांसारिक सुख मृत्यु का द्वार है। वे तो स्वरूपावस्थान स्वरूप आत्मतत्व को प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण दृष्टादृष्ट विषयों को तिलाञ्जलि दे देते हैं। वे 'आत्मतत्व ध्रुव है'[१]। ऐसा मानकर आत्मा का साक्षात्कार करते हैं और पुत्र, वनिता, धनादि विषयों को अनित्य मानकर स्वप्न में भी उनकी कामना नहीं करते हैं।

### आत्मज्ञ की सर्वज्ञता

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वैतत् ॥ ३ ॥

---

१. "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" बृ० उ० ४।४।२३

**शा० भा०**—यद्विज्ञानान्न किंचिदन्यत् प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदधिगम इत्युच्यते—येन विज्ञानस्वभावेनात्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्मैथुननिमित्तान्सुखप्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः। ननु नैवं प्रसिद्धिर्लोकस्य आत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति। देहादिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति। न त्वेवम्। देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम्। यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः सन्रूपादीन्विजानीयाद् बाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च विजानीयुः। न चैतदस्ति। तस्माद् देहादिलक्षणांश्चरूपादीनेतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेनात्मना विजानाति लोकः। यथा येन लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत्। आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके परिशिष्यते न किंचित्परिशिष्यते। सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम्। यस्यात्मनोऽविज्ञेयं न किंचित्परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः। एतद्वै तत्। किं तद्यत् नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिरपि विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद् विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥३॥

**अन्वय**—येन शब्दान् स्पर्शान् रूपम् रसम् गन्धम् मैथुनान् च विजानाति एतेन एव ( विजानाति ) अत्र किम् परिशिष्यते, एतत् वै तत्।

**शब्दार्थ**—येन = जिस (विज्ञान स्वभाववाले आत्मा) के द्वारा। मैथुनान् = स्त्रीसंसर्गजन्य सुख विशेष को। परिशिष्यते = शेष रह जाता है।

**अनुवाद**—जिस ( ज्ञानस्वभाववाले आत्मा ) के द्वारा मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ( स्वरूप सभी विषयों को ) एवं स्त्री सहवास से होनेवाले सुखविषयों को जानता है, ( अर्थात् विषयों और मैथुन-जन्य सुख का अनुभव करता है ) उसी आत्मा से ( यह भी जाना जाता है कि ) उस संसार में क्या शेष रह जाता है। यह वही परमात्मतत्व है ( जिसके विषय में तुमने पूछा था )।

**व्याख्या**—परमात्मा से मिली हुई ज्ञान शक्ति के द्वारा ही मनुष्य नील-पीत आदि रमणीय रूपों को, मधुर-अम्लादि रसों को, सुरभित और असुरभित गन्धों को, वर्णात्मक तथा विविध प्रकार के ध्वन्यात्मक शब्दों को एवं शीतोष्णादि स्पर्शों को अच्छी प्रकार जानता है अर्थात् इन रूप, रसादि का भोग करता है। इसके साथ ही साथ स्त्री के सहवासादि से होनेवाले सुखों का भी अनुभव करता है। इन विषयों का अनुभव देहादिरूप संघात के द्वारा नहीं होता है देहादि संघात

भी तो रूप, रसादि स्वरूपवाला है। यदि इन्हीं के द्वारा रूप-रसादि का ज्ञान हो तो बाह्य रूप, रसादि भी अपना अनुभव कर सकते हैं, पर वे जड़ होने के कारण अपना अनुभव स्वतः नहीं कर सकते हैं। अत. यह सिद्ध होता है कि ज्ञानस्वरूप आत्म-शक्ति के द्वारा ही रूप, रसादि का अनुभव किया जाता है। जब यह शक्ति नष्ट हो जाती है तब व्यक्ति विषयों का भोग नही कर सकता है। अतएव मनुष्य इसी शक्ति के द्वारा यह भी जान सकता है कि इस लोक में कौन-सी वस्तु शेष रहेगी? अर्थात् मनुष्य यह जान सकता है कि आत्मतत्त्व के अतिरिक्त कोई भी वस्तु शेष नहीं रहेगी। अतः उसी आत्मतत्त्व को जानना चाहिए।

अथवा जिस ज्ञान स्वभाववाले आत्मा से सभी रूप, रसादि जाने जाते हैं, उस आत्मा से संसार में कुछ भी अविज्ञेय नहीं है अर्थात् सब कुछ आत्मा से ही जाना जा सकता है। अतः आत्मा सर्वज्ञ है। यही सर्वज्ञ आत्मा ही ज्ञेय है। तुमने जिस संदेहास्पद आत्मतत्त्व के विषय में प्रश्न किया है, वह यही सर्वज्ञ आत्मा है ॥३॥

### अत्मज्ञ की निःशोकता

**स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।**
**महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ ४॥**

**शा० भा०**—अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञेयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह—स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं जागरितविज्ञेयं च; उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येन आत्मनानुपश्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत्। तं महान्तं विभुमात्मानं मत्वावगम्यात्मभावेन साक्षात् अहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति॥ ४॥

**अन्वय**—येन स्वप्नान्तं जागरितान्तं च उभौ अनुपश्यति (तम्) महान्तम् विभुम् आत्मानम् मत्वा धीरः न शोचति ॥४॥

**शब्दार्थ**—स्वप्नान्तं = स्वप्न के मध्य में (अन्त का यहाँ मध्य अर्थ है)। जागरितान्तम्=जाग्रत् अवस्था के मध्य में। अनुपश्यति = बार-बार देखता है। महान्तम् = सर्वश्रेष्ठ। विभुम्=सर्वव्यापी।

**अनुवाद**—जिस (आत्मा) के द्वारा मनुष्य स्वप्नकालीन और जाग्रदवस्था-दोनों प्रकार के दृश्यों को बार-बार देखता है, उस महान् और विभु आत्मा को जानकर बुद्धिमान पुरुष शोक नहीं करता है॥

व्याख्या—आत्मा के द्वारा मनुष्य स्वप्नकालीन और जाग्रत अवस्था के दृश्यों को बार-बार देखता रहता है। स्वप्नावस्था कल्पनाओं की अवस्था रहती है। इस अवस्था में जीव सुख और दुःख का भोग करता है।[1] जाग्रत अवस्था के सभी दृश्यों का भोग आत्मा के द्वारा होता है। आत्मा ही शरीर में स्थित होकर जगत् के विचित्र भोगों का सम्पादन करता रहता है।[2] मनुष्य आत्मा के द्वारा ही स्वप्न एवं जाग्रद् अवस्था के विचित्र दृश्यों के जाल में फँसा हुआ रहता है। ज्ञान के द्वारा ही इनसे मुक्ति मिलती है। सम्पूर्ण दृश्यों के प्रकाशक, व्यापक तथा विभु अर्थात् विविध रूप से सभी कल्पनाओं के अधिष्ठानभूत आत्मा का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् ही मनुष्य कर्तृत्वादि रूप शोक या जन्म-मरण के शोक से मुक्त होता है। इसलिए इसी आत्मतत्त्व को जानना चाहिए ।।४।।

## आत्मज्ञ की निर्भयता

**य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।**
**ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥ ५ ॥**

शा० भा०—किं च—यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारमात्मानं वेद विजानाति अन्तिकादन्तिके समीप ईशानम् ईशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुम् इच्छत्यभयप्राप्तत्वात्। यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम्। यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेत् एतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अन्वय—यः मध्वदम् जीवम् भूतभव्यस्य ईशानम् इमम् आत्मानम् अन्तिकात् वेद, ततः न विजुगुप्सते; एतत् वै तत् ॥

शब्दार्थ—मध्वदम्=कर्मफल के भोक्ता। जीव=प्राणादि कलाप को धारण करनेवाला। ईशानम् = शासन करनेवाला। अन्तिकात्=समीप से। वेद = जानता है। विजुगुप्सते = रक्षण नहीं करना चाहता है।

---

१. स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पित जीवलोके ।। कैवल्योप० १।१३।
२. स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
स्त्र्यन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तमेति ।। कैवल्योप० १।१२।

अनुवाद—जो मनुष्य कर्म-फलों के भोक्ता, प्राणादि को धारण करनेवाले तथा भूतकाल, भविष्यत् ( एवं वर्तमान काल ) के शासन करनेवाले इस आत्म तत्त्व को जानता है, इसके बाद वह इस आत्मतत्त्व की रक्षा की इच्छा नहीं करता। ( हे नचिकेता ! ) निश्चय रूप में यह वही आत्मतत्त्व है ( जिसके विषय में तुमने प्रश्न किया था ) ॥

व्याख्या—यह आत्मतत्त्व यद्यपि असङ्ग है किन्तु जीव रूप में अपने शुभाशुभ कर्मों के फलों को भोगता है माया से उपहित रहने के कारण कर्म-फल का भोक्ता न रहने पर भी अपने को भोक्ता मानता है। आत्मा की सत्ता-पर्यन्त ही प्राणादि की सत्ता रहती है। ज्योंही स्थूल शरीर से आत्मा का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, प्राणादि की सत्ता नष्ट हो जाती है। प्राणादि को धारण करने के कारण यह आत्मतत्त्व जीव कहलाता है। यह आत्मतत्त्व ही तीनों कालों का नियामक है। जब साधक आत्मा के इस रहस्य को जान लेता है, तब वह आत्मा की रक्षा की इच्छा नहीं करता है। आत्मा के नित्यत्व, व्यापकत्वादि को जानकर उसके मन में किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। वह जानता है कि कालत्रय का शासक आत्मा ही है। इसलिए वह भय-मुक्त हो जाता है और आत्मा को सभी कार्यजगत का कारण मानकर उसे नित्य मानने लगता है। वस्तुतः उस वस्तु की रक्षा की जाती है, जिसके नाश की सम्भावना हो। आत्मा तो अभेद्य, अच्छेद्य, नित्य और ध्रुव है। यमराज नचिकेता से कह रहे हैं कि मेरे द्वारा प्रतिपादित किये जानेवाले आत्मा—स्वरूप को जानना चाहिए ॥५॥

### ब्रह्मज्ञ का सार्वात्म्यदर्शन

**यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।**
**गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥ एतद्वै तत् ॥ ६ ॥**

शा० भा०—यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति—यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम्; किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः; अजायत उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिर्भूतैः कार्यकरणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत्। य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब यह बताया जाता है कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी-समूह परंमब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। अतः परमात्मा की ही सत्ता विभिन्न रूपों में प्रतिभासित होती है।

अन्वय—यः अद्भ्यः पूर्वम् अजायत। ( तम् ) पूर्वम् तपसः जातम् गुहाम् प्रविश्य भूतेभिः ( सह ) तिष्ठन्तम् यः व्यपश्यत। एतत् वै तत्॥

शब्दार्थ—अद्भ्यः=जल से। पूर्वम् = प्रथम। गुहां = प्राणियों के हृदयाकाश में। भूतेभिः = पञ्चभूतों के साथ। व्यपश्यत=देखता है।

अनुवाद—जो साधक सबसे पहले तप से उत्पन्न होनेवाले ( तथा ) जल ( आदि पञ्चभूतों ) से पहले ही उत्पन्न होने वाले एवं भूतों के सहित बुद्धि रूप गुहा में स्थित रहनेवाले आत्मतत्त्व को देखता है, ( वस्तुतः ) वही ब्रह्म को देखता है। निश्चय ही यह वही ब्रह्म है ( जिसे तुमने पूछा है )।

व्याख्या—सर्वप्रथम तपस्या अर्थात् ज्ञानरूपलक्षण वाले ब्रह्म से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई। यही हिरण्यगर्भ ब्रह्माण्ड का आरम्भक है। यह हिरण्यगर्भ जल आदि पञ्चभूतों से पहले उत्पन्न हुआ है। मंत्र का जल शब्द उपलक्षण है। उससे शेष भूतों का भी ग्रहण हो जाता है।[1]

इसी हिरण्यगर्भ से देवादि शरीर की उत्पत्ति होती है और जीव रूप में यही सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयाकाश में प्रविष्ट होकर कार्यकारण-संघातभूत पृथ्वी आदि भूतों के साथ स्थित है। यही शब्दादि विषयों का अनुभव करता है। यद्यपि आत्मा भोक्ता नहीं है तथापि भौतिक शरीरादि से सम्बन्धित होने के कारण शब्दादि विषयों का भोक्ता कहा जाता है। इसलिए इस आत्मतत्त्व को जो साधक अच्छी प्रकार देखता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है। इसलिए साधक को उसी ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए॥६॥

**या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।**
**गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत॥ एतद्वै तत्॥ ७॥**

शा० भा०—किं च—या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्मणः संभवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद् गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम्। तामेव विशिनष्टि—या भूतेभिः भूतैः समन्विता व्यजायत उत्पन्ना इत्येतत्॥ ७॥

---

१. द्र० शां० भा०।

**अन्वय**—या देवतामयी अदितिः प्राणेन सम्भवति, या भूतेभ्यः व्यजायत। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीम्, एतत् वै तत् ॥

**शब्दार्थ**—सम्भवति = उत्पन्न होती है। गुहां = हृदयरूपी गुहा में। तिष्ठन्तीम् = रहनेवाली। व्यजायत = उत्पन्न हुई। भूतेभिः = प्राणियों के सहित। अदितिः = शब्दादि विषयों का भक्षण करनेवाला।

**अनुवाद**—(परब्रह्म से) जो देवतामयी अदिति प्राण (अर्थात् हिरण्यगर्भादि) रूप से प्रकट होती है तथा बुद्धिरूप गुहा में प्रविष्ट होकर रहनेवाली जो भूतों से समन्वित है वही (तेरा पूछा हुआ) तत्त्व है ॥७॥

### अरणिस्थ अग्नि में ब्रह्मदृष्टि

**अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भं इव सुभृतो गर्भिणीभिः।**
**दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥ एतद्वै तत् ॥ ८ ॥**

**शा० भा०**—किं च—योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योः निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ताध्यात्मं च योगिभिर्गर्भं इव गर्भिणीभिः अन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोक इवेत्थमेवर्त्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत्। किं च दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिः जागरणशीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतत् हविष्मद्भीराज्यादिमद्भिर्ध्यानभावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैः अग्निः। एतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म।

**व्याख्या**—परब्रह्म के संकल्प से सर्वदेवतामयी अदिति उत्पन्न हुई। शब्दादि विषयों का भोग करने के कारण सर्वदेवतामयी शक्ति को अदिति कहते हैं। यह अदिति प्राण (अर्थात् प्राणघटित सूक्ष्म शरीर की उपाधि रूप हिरण्यगर्भ) रूप से उत्पन्न होती है। इसी अदिति से सम्पूर्ण देवताओं की उत्पत्ति होती है इसलिए इसे सर्वदेवतामयी अदिति कहते हैं। यह अदिति बुद्धि रूपी गुहा में प्रविष्ट होकर निवास करती है। वस्तुतः परब्रह्म ही अदिति के रूप सर्वत्र व्याप्त हैं। इसी से सम्पूर्ण देवताओं की उत्पत्ति होती है और यहो सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में व्याप्त है इसी के द्वारा शब्दादि विषयों का भोग किया जाता है। अतएव इस अदिति का साक्षात्कार करना चाहिए; क्योंकि यही अदिति सम्पूर्ण भूत = प्राणियों के साथ तादात्म्य प्राप्त कर उत्पन्न होती है। यमराज नचिकेता से कह रहा है कि यही तुम्हारा पूछा हुआ आत्मतत्व है। इसी तत्व के साक्षात्कार से साधक ब्रह्म हो जाता है ॥८॥

अन्वय--(यः) जातवेदाः अग्निः गर्भिणीभिः सुभृतः गर्भ इव अरण्योः निहितः, जागृवद्भिः हविष्मद्भिः मनुष्येभिः दिवे दिवे ईड्यः, एतत् वै तत् ॥

शब्दार्थ—जातवेदाः = सर्वज्ञ । गर्भिणीभिः = गर्भिणी स्त्रियों द्वारा । सुभृतः = अच्छी प्रकार धारण किये गये । अरण्योः = दो अरणियों के बीच में । निहितः = सुरक्षित है । जागृवद्भिः = निद्रावर्जित ( सावधान योगियों ) के द्वारा । हविष्मद्भिः = हवन करने योग्य सामाग्रियों से युक्त । मनुष्येभिः = मनुष्यों द्वारा । दिवे दिवे = प्रतिदिन । ईड्यः = स्तुति करने योग्य ॥

अनुवाद—गर्भिणी स्त्रियों द्वारा अच्छी प्रकार धारण किये गये गर्भ की भाँति जो सर्वज्ञ अग्नि दो अरणियों के बीच में स्थित है तथा जो (सदा) जागनेवाले ( अर्थात् सावधान रहनेवाले ) एवं हवनीय सामग्रियों से युक्त पुरुषों द्वारा नित्य प्रति स्तुति किये जाने योग्य है, वही ( तुम्हारे द्वारा पूछा गया ) ब्रह्म है ॥

व्याख्या—जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री के द्वारा धारण किया गया गर्भ पथ्य अन्न-पानादि के सेवन से सुभृत ( अर्थात् अच्छी प्रकार से धारण किया गया ) रहता है, उसी प्रकार जातवेदा--जो सवज्ञ है—अग्नि, अधर और उत्तर अर्थात् ऊपर और नीचे अरणियों के मध्य में अन्तर्निहित है। सम्पूर्ण उत्पन्न प्राणियों को जानने के कारण यह अग्नि जातवेदस है । यही ब्रह्म है । यही अग्नि रूपी ब्रह्म मोह-निद्रा का परित्याग कर देनेवाले योगियों के द्वारा ध्यान-भावना के द्वारा धारण किया जाता है तथा हवन-सामग्री से अपनी क्रियाओं को सम्पादित करने वाले याज्ञिक़ मनुष्यों के द्वारा यही अग्नि अन्दर में अच्छी प्रकार स्थापित है। यहो अग्नि रूप में स्थित ब्रह्म ही प्रतिदिन सभी लोगों से स्तुत्य है । संसार के सभी लोग इस अग्नि की उपासना करते हैं। इस अग्नि के अभाव में शरीर मृत कहा जाता है । संसार के सभी पदार्थ निस्सार हो जाते हैं। इसी के द्वारा याज्ञिक स्वर्ग लोक की कामना करते हैं और योगी योगाग्नि के द्वारा ही पापों का नाश कर मोक्ष की कामना करता है। इसलिए यह अग्नि प्रतिदिन स्तुत्य है । अतः यही अग्नि स्वरूप ब्रह्म भी तुम्हारे तृतीय प्रश्न का उत्तर है । इसे जानकर ही ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है ॥८॥

## प्राण में ब्रह्मदृष्टि

**यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।**
**तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ९ ॥**

शा० भा०—किं च—यतश्च यस्मात्प्राणादुदेति उत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽह्न्यहनि गच्छति तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्यादयोऽधिदेवं वागादयश्च अध्यात्मं सर्वे विश्वेऽरा इव रथनाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थितिकाले सोऽपि ब्रह्मैव । तदेतत् सर्वात्मकं ब्रह्म । तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि । एतद्वै तत् ॥९॥

अन्वय—यतः सूर्यः उदेति, यत्र अस्तं च गच्छति, सर्वे देवा तम् अर्पिताः, तत् उ कश्चन न अत्येति, एतत् वै तत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ–यतः = जहाँ से । अत्येति = लाँघ सकता है। अर्पिताः = समर्पित हैं।

अनुवाद—जहाँ से सूर्य उदित होता है और जहाँ वह अस्त होता है उस ( प्राणात्मक देव ) में सभी ( देवता ) समर्पित हैं। उसका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता है। वही ( तुम्हारा पूछा हुआ ब्रह्म ) है ॥ ९ ॥

व्याख्याः—संसार में किसी वस्तु की सत्ता तब तक है, जब तक उस वस्तु में प्राणात्मक ब्रह्म की सत्ता है। सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करनेवाला सूर्य भी उसी प्राणात्मक देव से उदित होता हैं और प्रतिदिन उसी प्राणात्मक देव में अस्त होता है। जैसे रथ-चक्र की नाभि में अरे केन्द्रित रहते हैं उसी प्रकार उस प्राणात्मक देव में सम्पूर्ण देवता प्रतिष्ठित हैं। ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो सर्वात्मक, सर्वमय परब्रह्म की व्यवस्था का अतिक्रमण कर सके। कोई भी उसकी महिमा का अन्त नहीं पा सकता है। यही ब्रह्म-सर्वशक्तिमान् परब्रह्म ही तुम्हारे द्वारा पूछा गया आत्म तत्व है ॥ ९ ॥

## भेददृष्टि की निन्दा

**यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।**
**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥**

शा० भा०—यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं तत्तदुपाधित्वादब्रह्मवदवभासमानं संसार्यन्यत्परस्माद् ब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्का इतीदमाह–यदेवेह कार्यकरणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म । यच्चामुत्रामुष्मिन्नात्मनि स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकरणोपाधिम् अनुविभाव्यमानं नान्यत् । तत्रैवं सत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणयाविद्यया मोहितः सन् य इह ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्य-

त्युपलभते स मृत्योर्मरणान्मरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते । तस्मात्तथा न पश्येत् । विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाकाशवद् परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येत् इति वाक्यार्थः ॥ १० ॥

अन्वय—यतः सूर्यः उदेति, यत्र अस्तं च गच्छति, सर्वे देवा तम् अर्पिताः, तत् उ कश्चन न अत्येति, एतत् वै तत् ॥

शब्दार्थ—यतः = जहाँ से । अत्येति = लाँघ सकता है । अर्पिता = समर्पित हैं ।

अन्वयः—यत् इह, तत् एव अमुत्र, यत् अमुत्र, तत् अनु इह । स मृत्योः मृत्युम् आप्नोति । यः इह नाना इव पश्यति ॥ १० ॥

शब्दार्थः—इह = यहाँ ( अर्थात् जीवोपाधि में ) । तत्=उक्त चैतन्य । अमुत्र = वहाँ ( अर्थात् अज्ञानरूप ईश्वर-उपाधि में ) । नाना इव = भिन्नत्व की भाँति ।

अनुवादः—जो चेतन तत्व यहाँ ( जीवोपाधि में ) है वही वहाँ ( अर्थात् अज्ञानरूप ईश्वर उपाधि में ) है । ( और ) जो चैतन्य वहाँ ( अज्ञानरूप ईश्वर उपाधि में ) है वही चैतन्य यहाँ ( जीवोपाधि में प्रविष्ट ) है । जो मनुष्य इस चित् तत्व में नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है ॥ १० ॥

व्याख्याः—ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है । शुद्ध ब्रह्म चित्स्वरूप है । व्यष्टि अज्ञान से उपहित होने पर वह जीव कहलाता है और समष्टि अज्ञान से उपहित होने पर ईश्वर कहलाता है । जो शुद्ध चैतन्य कार्य-करण अर्थात् देहेन्द्रिय रूप उपाधि से उपहित होकर अविवेकियों द्वारा जीव समझा जाता है वही समष्टि अज्ञानोपहित होने के कारण ईश्वर है । यही ईश्वर सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है । इस ईश्वर, जीव और ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है । केवल औपाधिक भेद है, अंशतः किसी प्रकार का विरोध नहीं है । जो व्यक्ति नानात्व अर्थात् अपने को ब्रह्म से भिन्न मानता है अथवा जीव, ईश्वर और ब्रह्म में भेद रखता है वह अपने अज्ञान के कारण निरन्तर एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को प्राप्त करता रहता है अर्थात् अपने अज्ञान के कारण सर्वदा जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है । इसलिए इस औपाधिक भेद को जानना चाहिए अर्थात् ब्रह्म और जीव में भेद-बुद्धि नहीं रखनी चाहिए ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

शा० भा०—प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन—मनसेदं ब्र ह्मैकर-समाप्तव्यम् आत्मैव नान्यदस्तीति। आप्ते च नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना नास्ति किञ्चनाणुमात्रम् अपि। यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न मुञ्चति नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन् इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अन्वयः—मनसा एव इदम् आप्तव्यम्। इह नाना किंचन न अस्ति। यः इह नाना इव पश्यति स मृत्योः मृत्युम् गच्छति ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—मनसा = मन के द्वारा। आप्तव्यम् = प्राप्त करना चाहिए।

अनुवादः—मन के द्वारा यह ( आत्म तत्व ) प्राप्त करने योग्य है। इस संसार में ( ब्रह्म तत्व को छोड़कर ) नानात्व ( भिन्नत्व ) कुछ भी नहीं है। जो पुरुष इसमें नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है।

व्याख्याः—ब्रह्म का साक्षात्कार शुद्ध मन के द्वारा सम्भव है। यम-नियमासनादि रूप योग के अभ्यास से मन जब ब्रह्माकाराकारित हो जाता है, तब इसी मन के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव है। इस प्राप्त अर्थात् साक्षात्कार किये गये ब्रह्म में किसी भी प्रकार की भेद-बुद्धि नहीं रहती है। कहने का आशय यह है कि ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर अविद्या और उसके कार्य संसार का नाश हो जाता है अतः ब्रह्म से अतिरिक्त की सत्ता के न होने से भेद-बुद्धि नहीं रहती है। जो अविवेकी अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ ब्रह्म में भेद-बुद्धि रखता है वह ब्रह्म का साक्षात्कार न कर सकने के कारण निरन्तर जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है ॥११॥

## हृदयपुण्डरीकस्थ ब्रह्म

**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।**
**ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥ १२ ॥**

शा० भा०—पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माह—अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः। अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तःकरणोपाधिः अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत् पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानम् ईशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥

अन्वय—अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष, आत्मनि मध्ये तिष्ठति। भूतभव्यस्य ईशानः ततः न विजुगुप्सते। एतत् वै तत् ॥

**शब्दार्थ**—अङ्गुष्ठमात्रः=अङ्गुष्ठ परिमाण वाला। पुरुषः=पूर्णात्मा (ब्रह्म)। आत्मनि=शरीर। ईशानः=शासक।

**अनुवाद**—जो अङ्गुष्ठपरिमाणवाला परम आत्मा शरीर के मध्य में स्थित है वह भूत, भविष्यत् ( और वर्तमान ) का शासन करनेवाला है। उस आत्मा को जानकर साधक अपने ( नश्वर ) शरीर की रक्षा नहीं करता है, निश्चय ही यही ब्रह्मतत्व है ॥१२॥

**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।**
**ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥ एतद्वै तत् ॥ १३ ॥**

**शा० भा०**—किं च—अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिष्परत्वात्। यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदयईशानो भूतभव्यस्य स नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्य-स्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः। अनेनं नायमस्तीति चैक इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च ॥ १३ ॥

**व्याख्या**—हृदयपुण्डरीक अङ्गुष्ठमात्र आकारवाला है। उसके छिद्रों में ही आत्मा का निवास है। हृदय में ही आत्मा की सत्ता[१] है। इसी हृदय में अन्तःकरण उपाधि से अवच्छिन्न है। अंगुष्ठ[२]-मात्रपरिमाणवाला यह परमात्मा रवि के समान प्रकाशक है। शरीर के मध्य में इस परमात्मा का निवास है। वस्तुतः यही परमात्मा ही तीनों काल का नियामक है। इसी आत्मा को जानकर साधक अपने नश्वर शरीर की ममता का परित्याग कर देता है। इसकी रक्षा की चिन्ता से मुक्त हो जाता है। उसे परम तत्व का साक्षात्कार हो जाने पर शरीर की रक्षा की आवश्यकता नहीं रहती है। यही परमतत्त्व तुम्हारे द्वारा पूछा गया आत्मतत्व है॥

'अंगुष्ठमात्र परिमाण, कहने का आशय यह है कि प्रत्येक प्राणी के शरीर के परिमाण के आकार के समान ही परमात्मा की सत्ता रहती है। हाथी और चींटी के शरीर के अनुसार ही परिमाण होता है। वस्तुतः परिमाण अन्तःकरण का परिणाम है। स्थूल परिमाण मानने से परमात्मा की व्यापकता समाप्त हो

---

१. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥ गी० १८।६१
२. अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः ॥ श्वेता० ५।८
अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संन्निविष्टः ॥ श्वेता० ३।१३

जायगी। अतः अन्तःकरणावच्छिन्न ही परिमाण है। मनुष्य का शरीर श्रेष्ठ है। इसलिए उसी को आधार मानकर अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला कहा गया है ॥१२॥

अन्वय—अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अधूमकः ज्योतिः इव भूतभव्यस्य ईशानः स एव अद्य उ सः श्वः एतत् वै तत् ॥१३॥

शब्दार्थ—पुरुषः=परमपुरुष परमात्मा। अधूमकः=धूमरहित। ज्योतिः इव=ज्योति की भाँति।

अनुवाद—यह अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला परमात्मा धूमरहित ज्योति के समान हैं तथा भूत, भविष्यत का शासक है। वह आज ( वर्तमान काल में भी ) है और यही कल ( अर्थात् भविष्यत् काल में भी रहेगा, ) यही निश्चय ही ( तुम्हारे द्वारा पूछा गया ) ब्रह्म है।

व्याख्या—मनुष्य की हृदयरूपी गुहा में स्थित परमपुरुष अंगुष्ठमात्रपरिमाणवाला है। यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान का नियामक है अर्थात् अखिल संसार का नियामक है। यह ज्योतिर्मय है। इस ज्योति में निर्मलता, दिव्यता ओर प्रकाशत्व है। लौकिक ज्योतियों में धूम्ररूप दोष होता है किन्तु परमात्मास्वरूप ज्योति बान स्वरूप होने के कारण सर्वथा निर्मल है। इस ज्योति की एकरसता नित्य है। यह परमात्म तत्व अखिल ब्रह्माण्ढ का नियामक है। त्रिकाल में इसकी सत्ता विद्यमान रहती है। कभी भी इसका नाश नहीं होता है। यही कूटस्थ नित्य औरमैंशश्वत ब्रह्म तुम्हारे द्वारा पूछा गाया आत्मतत्व है ॥१३॥

### भेदापवाद

**यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।**
**एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥**

शा० भा०—पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्राह्मण आह—यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्वतवत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति एवं धर्मान् आत्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्पृथक् एव प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुविधावति। शरीरभेदमेव पृथक्पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अन्वयः—यथा दुर्गे वृष्टम् उदकं पर्वतेषु विधावति एवम् धर्मान् पृथक् पश्यन् तान् एव अनुविधावति ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—दुर्गे = पर्वत के ऊँचे शिखर पर। वृष्टम् = वरसा हुआ। विधावति=चारों ओर चला जाता है। धर्मान् = भिन्न-भिन्न धर्मों से युक्त। पृथक् = परमात्मा से भिन्न। पश्यन् = देखता हुआ (जानता हुआ)। अनुविधावति = पीछे-पीछे दौड़ता (प्राप्त करता) है।

अनुवाद:—जिस प्रकार पर्वत के ऊँचे शिखर पर वरसा हुआ जल पर्वत से निम्न प्रदेशों की ओर वह जाता है, उसी प्रकार परमात्मतत्त्व से पृथक् आत्माओं (देव, असुर, मनुष्य आदि विभिन्न रूपों) को देखता हुआ उन्हीं को (अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वरूप को) प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

व्याख्या:—वर्षा का एक ही जल पर्वत के शिखर पर वरसता है किन्तु वही जल जब निम्न भाग की ओर बहने लगता है तब उस जल का भिन्न-भिन्न रूप हो जाता है। वह जल कहीं नदी, कहीं नाला, कहीं झील के रूप में परिवर्तित हो जाता है अथवा एक ही जल भिन्नता को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार एक ही परमात्मा तत्त्व सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है किन्तु अज्ञानी व्यक्ति भिन्न-भिन्न शरीर की उपाधियों से युक्त इस आत्मतत्व को देव, पितर, असुर आदि विभिन्न रूपों में देखता है। भेद-ज्ञान का कारण अविद्या या अज्ञान है। भेद-दृष्टि रखनेवाला अज्ञानी व्यक्ति उन्हीं-उन्हीं भिन्न रूपों को प्राप्त होता है अर्थात् भेद-ज्ञान के कारण अज्ञानी व्यक्ति को पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहना पड़ता है और अपने शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न योनियों को प्राप्त करता रहता है ॥ १४ ॥

## अभेददर्शन की कर्तव्यता

**यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।**
**एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥**

**शा० भा०**—यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघनैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्य आत्मस्वरूपं कथं सम्भवतीत्युच्यते–यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवत्यात्माप्येवमेव भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य हे गौतम! तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टम् आत्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैः आदरणीयमित्यर्थः ॥ १५ ॥

**अन्वय**—यथा शुद्धे ( उदके ) आसिक्तम् शुद्धम् उदकम् तादृक् एव भवति एवम् गौतम विजानतः मुनेः आत्मा भवति ॥ १५ ॥

**शब्दार्थ**—शुद्धे=निर्मल ( जल में )। आसिक्तम्=( मेघ से ) वरसाया हुआ या प्रक्षिप्त। गौतम=गौतमवंशी नचिकेता। विजानतः=(एकत्व को) जाननेवाले।

**अनुवाद**—जिस प्रकार शुद्ध जल में ( मेघ से बरसा ) पड़ा हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है। उसी प्रकार हे गौतम ! विज्ञानी की आत्मा भी हो जाती है।

**व्याख्या**—पर्वत के शिखर से पतित जल भिन्न रूप को प्राप्त हो जाता है किन्तु मेघ से वरसा हुआ शुद्ध जल शुद्ध में मिलकर एकाकार हो जाता है। जल की भाँति माननशील मुनि–जिसे अभेद ज्ञान प्राप्त हो चुका है, जो सम्पूर्ण चराचर को ब्रह्म ही मानता है—का मन जब योगाभ्यास से निर्मल हो जाता है, उस समय मुनि की आत्मा परब्रह्म परमात्मा की एकरसता को प्राप्त हो जाती है, और वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिए अभेदज्ञान के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥ (४)

## द्वितीया बल्ली

### प्रकारान्तर से ब्रह्मानुसंधान

**पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।**
**अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥**

**शा० भा०**—पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वाद् ब्रह्मणः—पुरं पुरमिव पुरम् । द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसम्पत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरम् । पुरं च सोपकरणं स्वात्मनासंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम्, तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं शरीरं स्वात्मनासंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति । तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादश द्वाराण्यस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि शिरस्येकं तैरेकादशद्वारं पुरम् । कस्याजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्यात्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य । अवक्रचेतसः अवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः । यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा—ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम्—तं सर्वैषणाविनिर्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति । तद्विज्ञानादभयप्राप्तेः शोकावसराभावात् कुतो भयेक्षा । इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति । विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥ १ ॥

**अन्वय**—अवक्रचेतसः अजस्य एकादशद्वारम् पुरम् ( अस्ति ) । अनुष्ठाय न शोचति । च विमुक्तः विमुच्यते । एतत् वै तत् ॥

**शब्दार्थः**—अवक्रचेतसः = विशुद्ध ज्ञान स्वरूप । अजस्य = अजन्मा परमेश्वर का । एकादशद्वारम् = ग्यारह द्वारवाला । पुरम् = पुर, नगर ( शरीर ) । अनुष्ठाय = अनुष्ठान करके । विमुक्तः = मुक्त होकर ( जीवन्मुक्त होकर ) । विमुच्यते = विदेहमुक्त हो जाता है ।

**अनुवादः**—उस नित्यविज्ञान स्वरूप ( कभी भी ) जन्म न लेनेवाले आत्मतत्व का पुर ( शरीर रूपी निवास स्थान ) ग्यारह द्वारवाला है । ( उस

आत्मतत्व का ) अनुष्ठान करके ( अर्थात् ध्यान करके ) मनुष्य शोक नहीं करता है और वह ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ) जीवन्मुक्त होकर ( शरीर-पात के पश्चात् ) विदेह-मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥

व्याख्या—यह आत्मा अवक्रचेता अर्थात् अकुटिल तथा सूर्य के सदृश नित्य-प्रकाश है। इस आत्मतत्व का कभी जन्म नहीं हुआ है अर्थात् शाश्वत है। इसका जन्म मानने से इसकी नित्यता खण्डित हो जायेगी। अतः यह अज है। इस प्रकार के आत्मतत्व का पुर ( नगर ) शरीर है। पुर के समान यह शरीर भी अपने स्वामी के लिए है[1]। इस शरीर में ग्यारह द्वार हैं। ये ग्यारह द्वार[2]—दो आँख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और शिश्न—हैं। इस प्रकार के पुर में रहनेवाले आत्मतत्व का अनुष्ठान कर अर्थात् आत्मतत्व के अभेद-ज्ञान को प्राप्त कर विद्वान् शोक-हेतु दुःखों के नष्ट हो जाने से शोक-मुक्त हो जाता है। ज्ञान हो जाने के पश्चात् साधक जीवन्मुक्त हो जाता है और प्रारब्ध कर्म के नष्ट हो जाने पर शरीर के नष्ट हो जाने से विदेह-मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। अथवा विमुक्त अर्थात् नित्यमुक्त आत्मतत्व पुर में रहने के कारण बद्ध समझा जाता है। जब आत्मतत्व का ज्ञान हो जाता है तब अवास्तविक बन्धन से साधक मुक्त हो जाता है। यही विमुक्त की मुक्ति है।

नचिकेता से यमराज कह रहे हैं कि ग्यारह द्वारवाले पुर में रहनेवाला आत्मतत्व तुम्हारे द्वारा पूछा गया आत्मतत्व हैं ॥ १ ॥

**हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।**
**नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥**

शा० भा०—स तु नैकशरीरपुरवर्त्येवात्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती। कथम्—हंसो हन्ति गच्छतीति शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीदति इति। वसुर्वासयति सर्वानिति। वाय्वात्मनान्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होताग्निः "अग्निर्वै होता" इति श्रुतेः। वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषद्। "इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः" ( ऋ० सं० २।३।२० ) इत्यादिमन्त्रवर्णात्! अतिथिः सोमः सन्दुरोणे कलशे सीदति इति दुरोणसत्। ब्राह्मणः अतिथि-रूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति। नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत्।

---

१. द्र० शां० भा०।

२. गीता में नवद्वार बताया गया है..."नवद्वारे पुरे देही" गी० ५।१३।

वरसद् वरेषु देवेषु सीदतीति; ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति। व्योमसद् व्योम्न्याकाशे सीदतीति व्योमसत्। अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति। गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायत इति। ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति। अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति। सर्वात्मापि सन्नृतमवितथस्वभाव एव। बृहन्महान्सर्वकारणत्वात्। यदाप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाप्यस्यात्मस्वरूपत्वमादित्यस्येत्यङ्गीकृतत्वाद् ब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोधः। सर्वव्याप्येक एवात्मा जगतो नात्मभेद इति मन्त्रार्थः॥ २॥

**अन्वयः**—शुचिषत् हंसः, अन्तरिक्षसत्, वसुः, दुरोणसत् अतिथिः, वेदिषत् होता, नृषत्, वरसत्, ऋतसत्, व्योमसत्, अब्जा, गोजाः, ऋतजाः, अद्रिजाः, बृहत् ऋतम्॥ २॥

**शब्दार्थः**—शुचिषत् = शुचि ( परमधाम ) में रहनेवाला। हंस = गमन करनेवाला ( सूर्य रूप )। अन्तरिक्षसत् = अन्तरिक्ष में निवास करने वाला। दुरोणसत्=घरों में उपस्थित होनेवाला अथवा सोमरस के आधार कलश में स्थित। वसु=वसु। वेदिषत्=पृथ्वी में गमन करनेवाला या यज्ञ की वेदी पर स्थित। होता=अग्नि। नृषत्=मनुष्यों में रहनेवाला। वरसत्=वर ( वेदों ) में रहनेवाला। ऋतसत्=सत्य या यज्ञ में रहनेवाला। व्योमसत्=आकाश में रहनेवाला। अब्जाः=जल में शंखादि रूपों में प्रकट होनेवाला। गोजाः=जो ( पृथ्वी ) में विविध रूपों में प्रकट होनेवाला। अद्रिजा. = पर्वतों में अनेक रूपों से प्रकट होने वाला। ऋतम्=सत्य।

**अनुवादः**—वह ( परमात्म तत्व ) सर्वत्र गमन करता है इसलिए प्रकाश स्वरूप सूर्य रूप है; आकाश में चमकता है अथवा परमधाम में रहता है इसलिए वह शुचिषत् है, सबको व्याप्त करता है इसलिए वसु है। वायु रूप से अन्तरिक्ष में निवास करता है, अतः अन्तरिक्षसत् है; वह पृथ्वी अथवा यज्ञ की वेदी वे रहनेवाला होता अर्थात् पावक है, अतिथि अर्थात् सोम होकर दुरोण=कलश में रहने के कारण दुरोणसत् है अथवा ब्राह्मण अतिथि के रूप में गृहस्थ के घरों में उपस्थित होनेवाला है, ( इसके अतिरिक्त ) वह नरों में स्थित है तथा मनुष्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ देवों में रहनेवाला है। ऋत-सत्य अथवा यज्ञों में तथा आकाश में रहनेवाला है, जलों में मत्स्य, शङ्ख, शुक्ति आदि के रूप में रहनेबाला है। पृथ्वी में वृक्ष, अङ्कुर आदि रूप में, यज्ञादि सत्कर्मों में विविध प्रकार के फल-

रूप में, पर्वतों में, नदी आदि के रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि परब्रह्म सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है।

इसी ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए ॥ २ ॥

**ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।**
**मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥**

**शा० भा०**—आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति। तथापानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः। तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाश आसीनं बुद्धावभिव्यक्तं विज्ञानप्रकाशनं वामनं संभजनीयं सर्वे विश्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानमुपासते। तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्ति इत्यर्थः। यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥ ३ ॥

**अन्वय**—( यः ) प्राणं ऊर्ध्वम् उन्नयति, अपानम् प्रत्यक् अस्यति, मध्ये आसीनम्, वामनम् विश्वे देवाः उपासते ॥ ३ ॥

**शब्दार्थः**—उन्नयति = उठाता है। ऊर्ध्वं=( हृदय देश से ) ऊपर। प्रत्यक्= नीचे। अस्यति=ढकेलता है। आसीनम् = बैठे हुए। वामनम् = सम्यक् भजनीय। विश्वे=सभी।

**अनुवादः**—( जो सभी व्यक्ति के ) प्राण को ( हृदय-प्रदेश से ) ऊपर की ओर ले जाता है तथा अपान वायु को नीचे की ओर ढकेलता है, हृदय के मध्य में स्थित ( उस ) भजनीय परब्रह्म की सभी देव उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

**व्याख्याः**—प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में प्राण-अपानादि की क्रिया परमात्मा की अनुकम्पा से हो रही है। वह परमात्म तत्त्व व्यक्ति के हृदय देश से प्राण वायु को ऊपर की ओर ले जाता रहता है ताकि व्यक्ति का जीवन सुरक्षित रहे। वही अपान वायु को नीचे की ओर ले जाता है। प्राणादि के समुचित सञ्चालन से प्राणी जीवित रहता है। वह हृदय-पुण्डरीक में सुशोभित है तथा वही सभी देवताओं का उपास्य है। इसीलिए सम्पूर्ण देवता उस ब्रह्म की उपासना करते रहते हैं। वस्तुतः उसी ब्रह्म का प्रकाश बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है जिसके फलस्वरूप जड़ बुद्धि सम्पूर्ण क्रियाओं को परिपूर्ण करती है। सम्पूर्ण इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता उस ब्रह्म की उपासना करते रहते हैं अर्थात् उसके लिए ही

देवों के चक्षु आदि इन्द्रियों के व्यापार होते रहते हैं। यही देवताओं के द्वारा की गयी उपासना है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि परम तत्व मन-बुद्धि तथा इन्द्रियों से पृथक्-तत्व है जिसकी उपासना के लिये तत्-तत्-स्थानीय देवता तत्पर रहते हैं॥ ३॥

### देहस्थ आत्मा ही जीवन है

**अस्या विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।**
**देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते॥ एतद्वै तत्॥ ४॥**

**शा० भा०**—किं च—अस्य शरीरस्थस्यात्मनो विस्रंसमानस्यावस्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः; विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे न किञ्चन परिशिष्यते। अत्र देहे पुरस्वामिविद्रवण इव पुरवासिनां यस्यात्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः॥ ४॥

अन्वयः—अस्य शरीरस्थस्य विस्रंसमानस्य देहिनः देहात् विमुच्यमानस्य अत्र किम् परिशिष्यते, एतत् वै तत्॥

शब्दार्थः—शरीरस्थस्य=शरीर में स्थित। विस्रंसमानस्य = ( एक शरीर से दूसरे शरीर में जानेवाले ) भ्रंश हो जाने पर। देहिनः=जीवात्मा के। अत्र=यहाँ ( यह शरीर में )।

अनुवाद—इस शरीरस्थ जीवात्मा के भ्रष्ट हो जाने ( अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर में चले जाने ) पर इस शरीर में क्या शेष रह जाता है? ( इसलिए शरीर-संघात से भिन्न ही ) तुम्हारे द्वारा पूछा गया है॥ ४॥

व्याख्या—यमराज नचिकेता को आत्मतत्व के स्वरूप को समझाते हुए कह रहे हैं कि यह आत्मतत्व शरीर संघात से भिन्न है। जिस प्रकार किसी नगर के राजा के नष्ट हो जाने पर नगरवासियों की दुर्दशा हो जाती है उसी प्रकार देह-संघात से आत्मतत्व के निकल जाने पर शरीर शव बन जाता है। उसे या तो अग्नि में जला दिया जाता है या जल में फेंक दिया जाता या भूमि में गाड़ दिया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर-संघात से भिन्न तत्व—जो शरीर का धारक है—ही आत्मा है॥ ४॥

**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।**
**इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥**

शा० भा०—स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमात् एवेदं विध्वस्तं भवति न तु तद्व्यतिरिक्तात्मापगमात्प्राणादिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति नैतदस्ति—न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते। स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां लोके; तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति। अत इतरेणैव संहत-प्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति। यस्मिन्संहतविलक्षण आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन्सः ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

अन्वय—कश्चन मर्त्यः न प्राणेन, न अपानेन जीवति तु यस्मिन् एतौ उपाश्रितौ इतरेण जीवन्ति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—उपाश्रितौ = आश्रित हैं। एतौ=ये ( प्राण और अपान ) दोनों। इतरेण=किसी अन्य से।

अनुवाद—कोई भी मनुष्य न तो प्राण ( वायु ) से जीवित रहता है, न तो अपान ( वायु ) से ही। जिस ( तत्व ) में ये ( प्राण, अपान ) दोनों आश्रित हैं, ऐसे ( प्राण-अपान से भिन्न ) किसी अन्य के द्वारा ही जीवित रहता है ॥५॥

व्याख्या—यदि कोई यह प्रश्न करे कि शरीर नष्ट हो जाता है, इसलिए शरीर-संघात से भिन्न आत्मतत्व नहीं है ?

इसका उत्तर देते हुए यमराज कह रहे हैं कि शरीर की सत्ता न प्राण पर आधारित है, न अपान पर ही, न चक्षु आदि इन्द्रियों पर ही अथवा सम्पूर्ण के संघात पर ही शरीर नहीं रहता है। जैसे संसार में देखा जाता है अचेतन घट आदि संघात चेतन की सत्ता पर ही आधारित है उसी प्रकार प्राणादि वायु संघात की स्थिति भी चेतन पर ही आश्रित है। प्राणादि से भिन्न एक चेतन तत्व है जहाँ प्राणादि आश्रित रहते हैं। यही चेतन तत्व ही शरीर की सत्ता का आधार है। इस तत्व के दूसरे शरीर में चले जाने पर शरीर का विनाश हो जाता है ॥५॥

मरणोत्तरकाल में जीव की गति

**हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।**
**यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥**

**शा० भा०**—हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यम् इदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरन्तनं प्रवक्ष्यामि यद्विज्ञानात् सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथात्मा भवति यथा संसरति तथा श्टृणु हे गौतम ॥६॥

अन्वय—गौतम ! गुह्यम् सनातनम् ब्रह्म च आत्मा मरणं प्राप्य यथा भवति इदं ते हन्त प्रवक्ष्यामि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—गुह्यं = रहस्यमय । सनातनम् = चिरन्तन ।

अनुवाद—हे गौतम ! अब मैं तुम्हें उस रहस्यमय और सनातन ब्रह्म का वर्णन करूँगा ( जिसको न जानने से ) मरण को प्राप्त होने पर आत्मतत्व जैसा हो जाता है ( उसे भी बताऊँगा ) ॥

व्याख्या—यमराज नचिकेता से कह रहा है कि अब मैं उस रहस्यात्मक चिरन्तन ब्रह्म के विषय में तुम्हें बताऊँगा जिस ब्रह्म को जान लेने पर साधक संसार के विषम-जाल से मुक्त हो जाता है और जिसे न जानने के कारण बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है ॥ ६ ॥

**योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।**
**स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥**

**शा० भा०**—योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिद् अविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः; योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः । स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावम् अन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति । यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत् । तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । "यथाप्रज्ञं हि संभवाः" इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ७ ॥

अन्वय—यथाकर्म यथाश्रुतम् शरीरत्वाय अन्ये देहिनः योनिम् प्रपद्यन्ते, अन्ये स्थाणुम् अनुसंयन्ति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—यथाश्रुतम् = शास्त्रादि-श्रवण द्वारा जिस भाव को प्राप्त हुआ हो । शरीरत्वाय = शरीर धारण करने के लिए । योनिम् = ( नाना प्रकार के ) जन्म को, स्थाणुम् = स्थाणु ( स्थावर भाव ) को । अनुसंयन्ति = अनुसरण करते हैं ।

**अनुवाद**—( कितने ) देहधारी अपने ( शुभाशुभ ) कर्म और ( शास्त्रादि के ) ज्ञान के अनुसार शरीर-धारण करने के लिए किसी योनि को प्राप्त होते हैं और कितने ( देहधारी ) स्थावर-भाव को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

**व्याख्या**—यमराज कह रहे हैं कि कुछ अविद्या या अज्ञान के अन्धकार में भटकनेवाले जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के तथा शास्त्र-श्रवण द्वारा प्राप्त भावना के अनुसार वीर्य रूप में स्त्री-योनि में प्रवेश करते हैं। कुछ जीव शास्त्र-श्रवण के पश्चात् कुछ अच्छे कर्मों को करते हैं अतः पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त करने के लिए वीर्य रूप में स्त्री के गर्भ में प्रवेश करते हैं। किन्तु जो अत्यन्त पापी व्यक्ति हैं, ये मरने के पश्चात् वृक्षादि स्थावर भाव को प्राप्त करते हैं। व्यक्ति अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार ही जन्म-ग्रहण करता है। जिनके अच्छे कर्म होते हैं तथा जिन्हें आत्म-ज्ञान हो जाता है, वे मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो अज्ञ हैं वे निरन्तर जन्म-मरण के दलदल में फँसे रहते हैं ॥ ७ ॥

**य एव सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ८ ॥**

**शा० भा०**—यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म वक्ष्यामीति तदाह—य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति। कथम् ? कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद् गुह्यं ब्रह्मास्ति। तदेवामृतमविनाशि उच्यते सर्वशास्त्रेषु। किं च पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य। तदु नात्येति कश्चन इत्यादि पूर्ववदेव ॥ ८ ॥

**अन्वय**—यः एषः कामं कामं निर्मिमाणः पुरुषः सुप्तेषु जागर्ति, तत् एव शुक्रम्, तत् ब्रह्म, तत् एव अमृतम् उच्यते। तस्मिन् सर्वे लोकाः श्रिताः, तत् कश्चन न अत्येति। एतत् वै तत् ॥ ८ ॥

**शब्दार्थ**—कामम् कामम् = इच्छित भोगों का। निर्मिमाणः = निष्पादन करनेवाले। शुक्रम् = विशुद्ध, शुभ्र, । अमृत = अविनाशी। श्रितः = आश्रित। अत्येति = अतिक्रमण करता है ॥

**अनुवाद**—प्राणादि के सो जाने पर जो यह पुरुष, अपने इच्छित पदार्थों का निष्पादन करता हुआ जागता रहता है वही विशुद्ध तत्त्व है, वही ब्रह्म है,

तथा वही अविनाशी तत्त्व है। उसी ( ब्रह्म ) में सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं, उस ( ब्रह्म ) का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता है। यही तुम्हारा पूछा हुआ आत्मतत्त्व है ॥ ८ ॥

**व्याख्या**—सुषुप्ति काल[1] में प्राणादि का विलयन हो जाता है। प्राणादि की सत्ता नहीं रहती हैं। ऐसे समय यह पुरुष अविद्या के योग से स्त्री आदि पदार्थ की कामना करता हुआ जागता रहता है अर्थात् प्राणादि के सुषुम्ना नाड़ी में विलीन हो जाने पर भी परमात्मतत्त्व कहीं विलीन नहीं होता है। इसकी सत्ता से शरीर का अस्तित्व बना रहता है। इसी ब्रह्म से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि प्रकाशित होता रहता है।[2] यही तत्त्व अत्यन्त विशुद्ध तथा अविनाशी है। इसी ब्रह्म में पृथ्वी आदि सम्पूर्ण लोक आश्रित है। इस परम तत्त्व की आज्ञा और महत्ता का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता है। यह निरतिशय है ॥ ८ ॥

## आत्माका उपाधिप्रतिरूपत्व

**अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो**
**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा**
**रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥**

**शा० भा०**—अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नम् अप्यात्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमप्यनृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाधीयत इति तत्प्रतिपादन आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः—अग्नियंथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं लोकस्तमिमं प्रविष्टः अनुप्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिदार्वादिदाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः प्रतिरूपः तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव; एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानाम् अभ्यन्तर आत्मातिसूक्ष्मत्वाद् दार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेन अविकृतेन स्वरूपेणाकाशवत् ॥ ९ ॥

**अन्वय**—यथा भुवनं प्रविष्टः एकः अग्निः रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव; तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपः च बहिः ॥ ९ ॥

---

१. सुषुप्तिकाले सकले विलीने। कैवल्यो० १५

२. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते।
तद्ब्रह्म……॥ कैव० उ० २०।

**शब्दार्थ**—भुवनम् = ब्रह्माण्ड में । रूपं रूपं = नाना रूपों में । प्रतिरूपः = रूप के प्रति ( अर्थात् पदार्थों के रूपवाला होगा ) । सर्वभूतान्तरात्मा = सभी प्राणियों के भीतर रहनेवाली आत्मा ।

**अनुवाद**—जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुई अग्नि नाना रूपों में ( रहनेवाले रूपवान् पदार्थों के ) अनुरूप हो गयी है, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर रहने वाली आत्मा एक होती हुई भी नाना रूपों में ( विद्यमान प्राणियों के ) अनुरूप हो गई है और ( वह ) बाहर भी है ॥ ९ ॥

**व्याख्या**—जिसमें सम्पूर्ण प्राणी होते हैं उसे भुवन[1] कहते हैं । अथवा जो होता है उसे भुवन कहते[2] हैं । एक ही अग्नि भुवन अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों में अथवा काष्ठसमूहों में व्याप्त है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त अग्नि में किसी प्रकार का भेद नहीं है । जब वह प्रज्ज्वलित होती है, तब पदार्थों के अनुरूप उसका रूप अथवा आकार हो जाता है । अग्नि की भाँति परब्रह्म परमात्मा एक ही है । वह समस्त प्राणियों के भीतर व्याप्त रहता है । यह अन्तरात्मा अत्यन्त सूक्ष्म हैं अतः सम्पूर्ण चराचर में व्याप्त है । यह आत्मतत्व प्रत्येक शरीर के अनुरूप हो जाता है अर्थात् पदार्थ के अनुरूप ही तेज और महिमा को अभिव्यक्त करता है । वह आकाश के समान बिना विकार को प्राप्त हुए तत्-तत् पदार्थों के बाहर भी स्थित है । वस्तुतः आत्मतत्व पदार्थो के अनुरूप ही नहीं है वरन् उनसे विलक्षण[3] है, इसलिए वह पदार्थों के बाहर भी निर्विकार रूप से व्याप्त रहता है ॥ ९ ॥

**वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो**
**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा**
**रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥**

**शा० भा०**—तथान्यो दृष्टान्त—वायुर्यथैक इत्यादि । प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यादि समानम् ॥ १० ॥

१. भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनम् । शा० भा० २।२।९ ।
२. भुवनं भवतीति भुवनम् । कठोप०—२।२।९ मणिप्रभा ।
३. त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी । कैवल्योप० २१ ।

**अन्वय**—यथा भुवनं प्रविष्टः एकः वायुः रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव तथा सर्वभूतान्तरात्मा एकः ( सन् अपि ) रूपं रूपं प्रतिरूपः बहिः च ॥ १० ॥

**अनुवाद**—जिस प्रकार ( एक ही ) वायु ( प्राणादि रूप से ) लोक में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक पदार्थ के अनुरूप हो रहा है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों के भीतर रहनेवाला एक ही ) आत्मतत्व प्रत्येक पदार्थ के अनुरूप हो रहा है। और ( पदार्थों के ) बाहर ( आकाश की भाँति निर्विकार रूप में ) स्थित है ॥ १० ॥

### आत्माकी असङ्गता

**सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-**
**र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा**
**न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥**

**शा० भा०**—एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इदमुच्यते—सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेन उपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शननिमित्तैराध्यात्मिकैः पापदोषैर्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः। एकः संस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। लोको ह्यविद्यया स्वात्मनि अध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखम् अनुभवति। न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि। यथा रज्जुशुक्तिकोषरगगनेषु सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो दोषरूपाणि सन्ति। संसर्गिणी विपरीतबुद्ध्यध्यासनिमित्तात्तद्दोषवद्विभाव्यन्ते। न तद्दोषैस्तेषां लेपः। विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्या हि ते। तथात्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनुभवति। न त्वात्मा सर्वलोकात्मापि सन् विपरीताध्यारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन। कुतः? बाह्यः, रज्ज्वादिवदेव विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यो हि स इति ॥ ११ ॥

**अन्वय**—यथा सर्वलोकस्य चक्षुः सूर्यः चाक्षुषैः बाह्यदोषैः न लिप्यते तथा सर्वभूतान्तरात्मा एकः लोकदुःखेन न लिप्यते ( यतः ) बाह्यः।

**शब्दार्थ**—सर्वलोकस्य = समस्त ब्रह्माण्ड का। चाक्षुषैः = नेत्र सम्बन्धी। लिप्यते = लिप्त होता है। लोकदुःखेन = लोक के दुःखों से।

**अनुवाद**—जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नेत्र होकर भी सूर्य नेत्र में सम्बन्धी बाह्यदोषों से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों में रहनेवाला एक ही

आत्मतत्व संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता है ( क्योंकि सबके भीतर रहता हुआ भी वह सबसे ) बाह्य है ॥ ११ ॥

**व्याख्या—**सूर्य संसार का नेत्र है। एक ही सूर्य अपने प्रकाश से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता रहता है। आलोक रूप से उपकारी होने के कारण देवतारूप में नेत्रों में रहने के कारण सूर्य सम्पूर्ण संसार का नेत्र है। मनुष्य सूर्य के प्रकाश से ही सम्पूर्ण पवित्र और मलमूत्रादि अपवित्र पदार्थों को भी देखते हैं। मनुष्य के नेत्र अपवित्र पदार्थों के संसर्ग से दूषित हो जाते हैं, उनमें अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु जगत का नेत्र सूर्य, अपवित्र पदार्थों के संसर्ग से आध्यात्मिक पाप, दोष तथा बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है। इसी प्रकार का आत्मतत्व सभी प्राणियों के भीतर स्थित है किन्तु वह आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से लिप्त नहीं होता है। सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि धर्म शरीर के हैं। अभ्यास के कारण पुरुष में आरोपित होते हैं। जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होने से व्यक्ति रज्जु से भयभीत होता है उसी प्रकार जरा-मरणादि दुःख शरीर और बुद्धि के हैं। आत्मा पर इसका आरोप मात्र होता है। वस्तुतः देहादि के धर्म से आत्मतत्व पुष्कर-पलाश के समान निर्लिप्त है। अतः इस तथ्य को जानकर आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए ॥ ११ ॥

### आत्मदर्शी ही नित्य सुखी है

**एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा**
**एकं रूपं बहुधा यः करोति।**
**तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-**
**स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥**

**शा० भा०—**किं च—स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वान्योऽस्ति। वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते। कुतः ? सर्वभूतान्तरात्मा। यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधानेकप्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात्। तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेण अभिव्यक्तमित्येतत्। न हि शरीरस्याधारत्वमात्मनः आकाशवदमूर्तत्वात्; आदर्शस्थं मुखमिति यद्वत्। तमेतम् ईश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति

आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वर-भूतानां शाश्वतं नित्यं सुखन् आत्मानन्दलक्षणं भवति; नेतरेषां बाह्यासक्त-बुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानात् ॥ १२ ॥

अन्वय—यः सर्वभूता-तरात्मा एकः वशी एकं रूपं बहुधा करोति, तम् आत्मस्थम् अनुपश्यन्ति, तेषां शाश्वतं सुखं इतरेषां न ॥

शब्दार्थ—एकः = सजातीय विजातीय-भेद से शून्य । वशी=सम्पूर्ण संसार को वश में करनेवाला । बहुधा=बहुत प्रकार से । आत्मस्थं=अपने अन्दर रहने-वाले । अनुपश्यन्ति = निरन्तर देखते रहते हैं ।

अनुवाद—सभी प्राणियों के अभ्यन्तर रहनेवाला ( तथा ) सभी को अपने अधीन रखनेवाला अद्वितीय जो परमतत्व अपने एक रूप को अनेक प्रकार का कर लेता है उस अपनी बुद्धि में स्थित आत्मतत्व को जो विवेकी पुरुष देखते हैं उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है, अन्य लोगों को नहीं ॥ १२ ॥

व्याख्या—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त और सब प्रकार से स्वतन्त्र परमतत्व एक अर्थात् अद्वितीय है। न उसके समान, न उससे महान् ही कोई अन्य तत्व है। उसी के अधिकार में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। जैसा वह चाहता है वैसा ही ब्रह्माण्ड को परिवर्तित कर देता है । वही सभी प्राणियों का अन्तर्यामी है, अतः सभी पर उसका अधिकार रहता[1] है। नामरूपादि से रहित आत्मतत्व अपनी इच्छा से अपने एक रूप को औपाधिक भेद से अनेक रूपों में परिवर्तित कर देता[2] है। यह आत्मतत्व व्यक्ति के हृदयाकाश में स्थित है। मंत्र का आत्मा शब्द बुद्धिवाचक है। वह आत्मतत्व बुद्धि में प्रतिबिम्बित है। ऐसे बुद्धि स्थितआत्मा का साक्षात्कार वे ही कर सकते हैं जो आचार्य के उपदेश से अपनी बुद्धि को निर्मल बना सके हैं। जिनकी वृत्तियाँ सांसारिक विषय-वासनाओं से विरत हैं वे विवेकी व्यक्ति ही परमात्मतत्व का साक्षात्कार कर सकते हैं और ऐसे लोग परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर शाश्वत आनन्द को प्राप्त करते हैं। किन्तु जिनकी चित्तवृत्तियाँ ब्राह्य विषयों की ओर सुरत हैं ऐसे व्यक्ति आत्मतत्व का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं ॥१२॥

---

१. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥—गी० १८.६१ ।

२. सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । तैत्ति० उ० २।६ ।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

**शा० भा०**—नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम्। चेतनश्चेतनानां चेतयितॄणां ब्रह्मादीनां प्राणिनाम् अग्निनिमित्तमिव दाहकत्वम् अनग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम्। किं च स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान्य एको बहूनाम् अनेकेषामनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत्। तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः उपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनैवंविधानाम् ॥ १३ ॥

**अन्वय**—यः अनित्यानां नित्यः, चेतनानां चेतनः, एकः बहूनां कामान् विदधाति, तम् आत्मस्थं ये धीराः अनुपश्यन्ति तेषां शाश्वती शान्ति, इतरेषां न।

**शब्दार्थ**—अनित्यानां = विनाशी भावों का। बहूनां = अनेक जीवों का। कामान् = भोगों का। शाश्वती = निरन्तर रहनेवाली।

**अनुवाद**—जो अनित्य पदार्थों का नित्य रूप तथा चेतनों का चेतन रूप है वही अकेला आत्म तत्व अनेक जीवों की विविध कामनाओं को पूर्ण करता है। जो धीर व्यक्ति अपनी बुद्धि में स्थित उस आत्मा का दर्शन करते हैं वे ही नित्य शान्ति प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं ॥ १३ ॥

**व्याख्या**—परमात्म तत्व अनित्य अर्थात् विनाशी पदार्थों में नित्य रहनेवाला है। विनाशशील पदार्थ नष्ट हो जाते हैं किन्तु उनकी आकृति नष्ट नहीं होती; नित्य रहती है। इसलिए विनाशी भावों का जो अविनाशी तत्व है वह परमात्मतत्व है। इसलिए कहा गया है कि वह अनित्यों का नित्य है। अथवा सभी विनाशशील भाव जन्मादि षड विकारों को प्राप्त होते रहते हैं किन्तु वह इन विकारों से रहित है। वही सभी चेतनों का भी चेतन है अर्थात् सम्पूर्ण चेतन उसी पर उसी प्रकार आधारित हैं जैसे विद्युत केन्द्र सम्पूर्ण प्रकाशशील बल्बों का आधार है। वह अकेला है किन्तु सभी जीवों की भौतिक कामनाओं को पूर्ण करता है[1]। इस बुद्धिस्थ आत्मतत्व का जो विवेकी गुरु-उपदेश के बाद

१. "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" गी० ९।२२

साक्षात्कार करते हैं, वे नित्य आनन्द को प्राप्त[1] करते हैं। अविवेकी तो जन्म-मरण के संसार-सागर में गोता खाते रहते हैं ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

शा० भा०—यत्तदात्मविज्ञानं सुखम् अनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टप्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरम् अपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते यत्तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते। कथं नु केन प्रकारेण तत् सुखमहं विजानीयाम्। इदम् इत्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः। किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किं वा नेति ॥ ४॥

अन्वय—तत् अनिर्देश्यम् परमम् सुखम् एतत्; इति मन्यते, तत् कथम् नु विजानीयाम्, किमु भाति वा विभाति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—अनिर्देश्यम्=अनिर्वचनीय। विजानीयाम् = भलीभाँति समझूँ, भाति = प्रकाशित होता है। विभाति = स्पष्ट होता है।

अनुवाद—उसी आत्मतत्व को विवेकी पुरुष अनिर्वचनीय परम सुख मानते हैं, उसे मैं कैसे जान सकूँगा? क्या-क्या वह प्रकाशित होता है अथवा अनुभव का विषय बनता है (या नहीं।) ॥ १४ ॥

व्याख्या—ज्ञानी जन ऐसा मानते हैं कि जो आत्मानन्द है, वह अनिर्वचनीय है अर्थात् उसके स्वरूप को वाणी के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। मन और वाणी का अविषय होते हुए भी ज्ञानी के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है, इस परम सुख को पाकर योगी अन्य सुख की कामना नहीं करता है[2]।

यमराज कह रहे हैं कि ऐसे अद्वितीय आत्मतत्वको किस प्रकार अपनी बुद्धि का विषय बनाऊँ? ऐसी जिज्ञासा और प्रयास कना चाहिए। यह निरन्तर चिन्तन करना चाहिए कि क्या यह आत्मतत्व प्रकाशस्वरूप है? क्या हमारी बुद्धि का विषय होकर स्पष्ट भासित होता है। इस प्रकार का चिन्तन करने-वाला आत्मतत्व को जानने में सफल हो सकता है।१४ ॥

---

१. ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ तैत्तिरी० उप० २।८।

२—यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः गी० ६।२

### सर्वप्रकाशक का अप्रकाश्यत्व

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

**शा० भा०**—अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति। कथम् ? न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। तथा चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्दृष्टिगोचरः अग्निः । किं बहूनां यदिदमादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनुदहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति ।

यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च। कार्यगतेन विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते। न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम्। घटादीनाम् अन्यावभासकत्वादर्शनाद्भासनरूपाणां चादित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥१५॥

**अन्वय**—तत्र न सूर्यः भाति, न चन्द्रतारकम् ( भाति ), न इमाः विद्युतः भान्ति। अयं अग्निः कुतः। तम् भान्तम् एव सर्वम् अनुभाति। तस्य भासा इदं सर्वं विभाति ॥ १५ ॥

**शब्दार्थ**—भासा = प्रकाश से। इदं सर्वम् = यह सम्पूर्ण जगत्। विभाति = प्रकाशित होता है।

**अनुवाद**—वह ( अर्थात् आत्मस्वरूप ब्रह्म में ) न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्र (और) न तारे, न ये विजलियाँ ही चमकती हैं, (तो) यह अग्नि किस प्रकार ( चमक सकती है ) उसके प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाश से। यह सब ( संसार ) प्रकाशित होता है ॥ १५ ॥

**व्याख्या**—परमात्मत्व का प्रकाश अपरिमित है। सहस्र सूर्य भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकते तो एक सूर्य की बात तो दूर रही। जैसे सूर्य के प्रकाश के समक्ष खद्योतऔर तारों का प्रकाश विलुप्त हो जाता है, उसी

---

१—दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ गी० ११।१२ ।

प्रकार उस परब्रह्म के प्रकाश से सूर्य अभिभूत हो जाता है। इसलिए उस परब्रह्म के प्रकाश के समक्ष न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा। तारो और अग्नि की क्या शक्ति कि प्रकाशित हों? संसार के नेत्रों को चकाचौंध कर देनेवाली अनेक प्रकार की विजलियाँ भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकती हैं। वस्तुतः उसी के प्रकाशित होने पर ही सारा संसार प्रकाशित होता है। वही सूर्यादि को तेज प्रदान करता है।

वह ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, स्वयंप्रकाश को प्रकाशित करने के लिए किसी भी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती है। जैसे घट आदि वस्तु सूर्यादि के प्रकाश से प्रकाशित होता है, सूर्यादि को प्रकाशित नहीं कर सकता है उसी प्रकार सूर्यादि तेज-पुञ्ज भी घट आदि के समान ब्रह्म से प्रकाशित होते हैं, उसे प्रकाशित नहीं कर सकते हैं। अतः ऐसे अद्वितीय प्रकाशित परमब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्व-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥२॥ (५)

# तृतीया वल्ली

संसाररूप अश्वत्थवृक्ष

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।

एतद्वै तत् ॥१॥

शा० भा०—तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथा, एवं संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषयेयं षष्ठी वल्ल्यारभ्यते–ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं यत् तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः। वृक्षश्च व्रश्चनात्। जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुभिः अनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धस्तृष्णाजलावसेकोद्भूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतप आद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवेदनानेकरसः प्राण्युपजीव्यानन्तफलस्तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढबद्धमूलः सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिताक्रुष्टरुदितहाहामुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः, स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिः अवाक्शाखः; सनातनोऽनादित्वाच्चिरं प्रवृत्तः। यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मत् चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्। तदेवामृतम् अविनाशस्वभावमुच्यते कथ्यते सत्यत्वात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतम् अन्यदतो मर्त्यम्। तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता

उत्पत्तिस्थितिलयेषु। तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि विकारः। एतद्वै तत्॥१॥

अन्वय—ऊर्ध्वमूलः अवाक्शाखः एषः सनातनः अश्वत्थः, तत् एव शुक्रम् तत् ब्रह्म, तत् एव अमृत उच्यते। सर्वे लोका तस्मिन् श्रिताः कश्चन उ तत् न अत्येति, एतत् वै तत्॥

शब्दार्थ—ऊर्ध्वमूलः = ऊपर की ओर मूलवाला। अवाक्शाखः = नीचे की ओर शाखा वाला। अश्वत्थः = पीपल का वृक्ष। श्रिता = आश्रित हैं।

अनुवाद—जिसका मूल ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं ऐसा यह ( प्रत्यक्ष जगत् ) सनातन ( प्रवाहरूप में ) पीपल का वृक्ष है। यही विशुद्ध प्रकाशस्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत ( अविनाशी ) है। सम्पूर्ण लोक उसी ( ब्रह्म ) में आश्रित हैं; कोई भी ( तत्व ) उसका ( ब्रह्म का ) अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही निश्चय करके वह ( ब्रह्म ) है॥१॥

व्याख्या—भगवान विष्णु का परम पद ऊपर की ओर स्थित है जहाँ मधु की धारा प्रवाहित होती रहती है।[1] विष्णु का यही परम पद संसार रूपी वृक्ष का मूल स्थान है। संसार के वृक्षों का मूल नीचे रहता है किन्तु संसाररूप पीपल का मूल ऊपर की ओर है। वस्तुतः इस संसाररूपी पीपल के वृक्ष का मूल परब्रह्म[2] ही है। उस संसार को वृक्ष इसलिए कहा जाता है कि यह वृक्ष की भाँति काटा जाता है और बढ़ता रहता है। जैसे पीपल का वृक्ष पत्तों से भरा हुआ मनोहर लगता है और इसकी अनेक शाखाओं में पक्षी-गण घोसला बनाकर रहते हैं, किन्तु अन्त में इसका नाश हो जाता है और इस वृक्ष से होनेवाला फल निस्सार होता है, उसी प्रकार संसार की विषय वासनाएँ देखने में मनोहर लगती हैं इसमें समस्त योनियाँ घर बनाकर रहती हैं। विषय-वासनाओं का फल निस्सार होता है और इस संसार का भी एक दिन नाश हो जाता है। इस प्रकार का जगत रूप वृक्ष सनातन है अर्थात् इसकी प्रवाह नित्यता है। यह अविद्या, काम, कर्म और अव्यक्तरूप बीज से उत्पन्न होता है। ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न हिरण्यगर्भ ही उस बीज का अङ्कुर है। सम्पूर्ण प्राणियों के लिङ्गशरीर ही स्कन्ध है। यह वृक्ष तृष्णा के जल के सिंचन से बढ़ता है। बुद्धि इन्द्रिय और विषय ही

---

१—विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः। ऋ० वे० १।१५४।५

२—वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारः॥शा० भा० २।३।१ कठो प०।

इसके नूतन पल्लव हैं। श्रुति, स्मृति, न्याय और ज्ञानोपदेश इसके हरे-हरे पत्ते हैं। यज्ञ, दान, तप आदि इसके सुन्दर पुष्प हैं। सुख, दुःख और वेदनारूप अनेक प्रकार के रसों से परिपूर्ण प्राणियों की आजीविका ही अनन्त फल हैं। ब्रह्मा आदि पक्षी गण, सात लोकरूप घोसलों का निर्माण कर उसमें रह रहे हैं। सांसारिक आमोद-प्रमोद से होनेवाले शब्दों से यह वृक्ष गुञ्जरित होता रहता है।[1]

इस वृक्ष की शाखाएँ नीचे की ओर फैली हुई हैं, स्वर्ग, नरक तिर्यक् प्रेतादि योंनियों से कष्ट की प्राप्ति होती है। इसलिए ये प्रेतादि ही इसकी नीचे की ओर फैली हुई शाखाएँ हैं। यद्यपि स्वर्ग सुखद है फिर भी मोक्ष की अपेक्षा अत्यन्त हेय है। यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है। इसलिए शाश्वत है। इस संसार का मूल परब्रह्म ज्योतिर्मय है क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है और उसी के प्रकाश से सारा संसार प्रकाशित होता रहता है। वही सबसे महान् होने के कारण ब्रह्म है।[2] अविनाशी स्वभाववाला होने के कारण अमृत है। ब्रह्म से अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत अनित्य हैं क्योंकि यह जगत वाणी का विकार मात्र है[3]। उसी ब्रह्म में सम्पूर्ण लोक आश्रित है। इस ब्रह्म का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता है अर्थात् इसकी महिमा आदि का अतिक्रमण कोई तत्व इसलिए नहीं कर सकता है क्योंकि कोई भी शक्ति न इसके समान है, न इससे महान् ही है।

इस प्रकार का अद्वितीय ब्रह्म ही तुम्हारे द्वारा पूछा हुआ आत्मतत्व है ॥१॥

### ईश्वरज्ञान से अमरत्वप्राप्ति

**यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।**
**महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥**

**शा० भा०**—यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत एवेदं निःसृतमिति। तत्र—यदिदं किं च यत्किं चेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते। यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम्। महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मादिति महद्भयम्; वज्रमुद्यतमुद्यतमिव वज्रम्। यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने वर्तन्ते तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणम्

१. द्र० शां० भा।
२. ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्। शां० भा०
३. द्र० छा० उ०

अप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं भवति। य एतद्विदुः स्वाप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥२॥

अन्वय—निःसृतम् इदम् यत् किं च सर्वम् जगत् प्राणे एजति; एतत् उद्यतम् वज्रम् महत् भयम्। ये विदुः ते अमृताः भवन्ति।

शब्दार्थ—निःसृतम्=परब्रह्म से निकला हुआ। एजति=चेष्टा करता है। उद्यत=उठते हुए। प्राणे=परब्रह्म के होने पर।

अनुवाद—( पर ब्रह्म से ) निकला हुआ ( प्रकट हुआ, या उत्पन्न ) यह जो कुछ सारा जगत है, प्राणस्वरूप ब्रह्म में चेष्टा कर रहा है, ( ब्रह्म ) महद् भय रूप उद्यत वज्र (के तुल्य हैं), उसे जो जानते हैं, अमर हो जाते हैं।

व्याख्या—सारा संसार परब्रह्म से ही निकला हुआ है। प्राणस्वरूप ब्रह्म में ही चेष्टा कर रहा है अर्थात् प्राण ही ब्रह्म है क्योंकि प्राण के बिना व्यक्ति की सत्ता नहीं रहती। प्राण के रहने पर ही व्यक्ति चेष्टा करता है। अतएव इसी प्राणरूपी ब्रह्म में ही सारा जगत चेष्टा कर रहा है। यह ब्रह्म महान् भय प्रदान करनेवाला है। जैसे हाथ में उठे हुए वज्रवाले व्यक्ति के भय से सभी लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, उसी प्रकार सूर्य, चन्द्र आदि परब्रह्म के भय से अपने-अपने काम में रत हैं। जो पाप-रत मानव हैं उन्हें परब्रह्म दण्ड देते हैं, इसलिए उनके लिए परब्रह्म सर्वाधिक भयावह है। जो व्यक्ति ब्रह्म के इस रहस्य को जानता है, वह संसार से मुक्त हो जाता है क्योंकि ब्रह्म को भयावह जानकर सत्कर्मों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए वह मुक्त हो जाता है, अन्य अविवेकी बन्धन में पड़े रहते हैं ॥२॥

### सर्वशासक प्रभु

**भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।**
**भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ ३ ॥**

शा० भा०—कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इत्याह—भयाद्भीत्या परमेश्वरस्याग्निः तपति भयात्तपति सूर्यो भयाद् इन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यतकरवत्स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥ ३ ॥

अन्वय—अस्य भयात् अग्निः तपति, भयात् सूर्यः तपति भयात् इन्द्रः वायुः पञ्चमः मृत्युः च धावति।

अनुवाद—इस ( परब्रह्म ) के भय से अग्नि तपती रहती है, सूर्य तपता रहता है, इन्द्र, वायु और पांचवां मृत्यु भी कांपती है ।

व्याख्या—परब्रह्म के भय से पावक, दाह प्रकाश आदि करता रहता है; सूर्य भी अपने प्रकाश से अन्धकार दूर कर संसार को दिशा प्रदान करता है, इन्द्र भय से समय-समय पर वर्षा करता है, पवन भी बहता हुआ संसार को पवित्र करता है। मृत्यु भी भय से अपने सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन करती है अर्थात् पापादि व्यक्तियों को दण्ड देती है[1] ॥३॥

### ईश्वरज्ञानके बिना पुनर्जन्मप्राप्ति

**इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।**
**ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥**

शा० भा०—तच्च इह जीवन्नेव चेद्यद्यशकत् शक्नोति शक्तः सञ्जानात्येतद्भयकारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽवस्रंसनात्पतनात्संसारबन्धनाद्विमुच्यते। न चेदशकद्बोद्धुं ततः अनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः। तस्माच्छरीरविस्रंसनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः ॥ ४ ॥

अन्वय—चेत् शरीरस्य विस्रसः प्राक् इह बोद्धुम् अशकत् ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—विस्रसः = पतन होने से । प्राक् = पहले । इह = इस देह में । बोद्धुम्=जानने के लिए । अशकत्=कर सका । सर्गेषु=सृष्टि ।

अनुवादः—यदि शरीर पात के पूर्व ही इस शरीर में ( साधक ) परब्रह्म को जान सका ( साक्षात्कार कर सका तो ठीक है नहीं तो ) इसके बाद अनेक सृष्टियों ( कल्पों ) तक अनेक लोक और योनियों में शरीर-भाव को प्राप्त करने के लिए विवश होता है ।

व्याख्या—मनुष्य का शरीर ब्रह्म को जानने का अन्यतम साधन है। इस शरीर के नाश के पूर्व ही यदि यह जानने में समर्थ हो जाता है कि सम्पूर्ण संसार

---

१. भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः ।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ इति ॥ तैति० उ० २।८ ।

का कारण ब्रह्म है, उसी के भय से सूर्यादि प्रकाशादि करते हैं। मनुष्य की सत्ता कुछ नहीं है। यदि मनुष्य ब्रह्म को नहीं जान सका तो उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है और वह अनेक योनियों में विविध शरीर को धारण करता हुआ युगों तक संसार के विषम जाल में फँसा रहता है। अतः मनुष्य को ब्रह्म को जानकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। मंत्र में 'सर्गेषु' शब्द से यह अभिव्यक्त होता है कि यदि मनुष्य शरीर पाकर ब्रह्म को नहीं जान सका तो अनेक युगों तक जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है ॥ ४ ॥

## स्थानभेदसे भगवद्दर्शनमें तारतम्य

**यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥**

शा० भा०—यस्मादिहैवात्मनो दर्शनम् आदर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकाद् अन्यत्र, स च दुष्प्रापः, कथम्? इत्युच्यते—यथादर्शे प्रतिबिम्बभूतम् आत्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं तथेहात्मनि स्वबुद्धौ आदर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तम् आत्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः। यथा स्वप्नेऽविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भूतं तथा पितृलोकेऽविविक्तम् एव दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात्। यथा चाप्सु अविभक्तावयवमात्मरूपं परीव ददृशे परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः। एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते। छायातपयोः इवात्यन्तविविक्तम् ब्रह्मलोक एव एकस्मिन्। स च दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात्। तस्मादात्मदर्शनायेहैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

अन्वयः—यथा आदर्शे तथा आत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके यथा अप्सु तथा गन्धर्वलोके परिददृशे इव ब्रह्मलोके छायातपयोः इव (प्रतीयते) ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—आदर्शे=शुद्ध दर्पण में। आत्मनि=अंतःकरण में। अप्सु = जलों में। परिददृशे = दिखाई पड़ती है। छायातपयोः=छाया और धूप की।

अनुवाद—जिस प्रकार दर्पण में (सामने आई हुई वस्तु का प्रतिबिम्ब दिखाई पढ़ता है) उसी प्रकार निर्मल अन्तःकरण में (ब्रह्म का दर्शन होता है), जैसे स्वप्न में (विविध प्रकार की) अस्पष्ट वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं। उसी प्रकार पितृलोक में (आत्म-दर्शन अस्पष्ट) होता है। जैसे (चञ्चल) जलों में (रूप

अस्पष्ट दिखाई पड़ता है ) उसी प्रकार गन्धर्वलोक में ( अस्पष्ट रूप से ) आत्म-दर्शन होता है। किन्तु ब्रह्मलोक में छाया और धूप के समान ( आत्मा का स्पष्ट ) भान होता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—जैसे निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है उसी प्रकार साधन-चतुष्टय-सम्पन्न अंतःकरण में स्पष्ट रूप से आत्मा का साक्षात्कार होता है। जब तक अन्तःकरण निर्मल नहीं होता आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता है। जिस प्रकार स्वप्न में वस्तु-समूह का यथार्थ रूप नहीं दिखलाई पड़ता है, केवल जाग्रद्-वासना और विविध संस्कारों के अनुसार वस्तु का अस्पष्ट रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार पितृलोक में परब्रह्म का स्पष्ट रूप प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि पितृलोक को प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों के चित्त में विषय-भोग की वासनाएँ रहती हैं। यद्यपि गन्धर्वलोक पितृलोक से श्रेष्ठ है फिर भी वहाँ भोग के प्रति आसक्ति रहती है इसलिए वहाँ भी आत्मा का स्पष्ट दर्शन ठीक उसी प्रकार नहीं होता है जैसे चञ्चल जल में व्यक्ति का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं पड़ता है। किन्तु ब्रह्मलोक में छाया और धूप की भाँति ब्रह्म का स्पष्ट रूप प्रतीत होता है। धूप की सत्ता पर ही छाया की सत्ता रहती है। धूप के समान ब्रह्म है और छाया के समान जगत् है। ब्रह्मलोक में ब्रह्म और जगत् की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। यह ब्रह्मलोक ज्ञान से प्राप्त होता है। ज्ञान होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है। इसलिए ब्रह्मलोक में ब्रह्म का स्पष्ट दर्शन होता है। इसलिए मनुष्य-शरीर के द्वारा आत्म-दर्शन का प्रयास करना चाहिए ॥ ५ ॥

### आत्मज्ञानका प्रकार और प्रयोजन

**इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।**
**पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥**

**शा० भा०**—कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते-इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः पृथग् उत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात् केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकतां तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नात्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान्न शोचति। आत्मनो नित्यैकस्वभावस्य अव्यभिचाराच्छोक-

कारणत्वानुपपत्तेः । तथा च श्रुत्यन्तरम् "तरति शोकमात्मवित्" ( छा०-उ० ७ । १ । ३ ) इति ॥ ६ ॥

**अन्वय**—पृथक् उत्पद्यमानानाम् इन्द्रियाणां यत् पृथक् भावम् च, उदयास्तमयौ मत्वा धीरः न शोचति ॥६॥

**शब्दार्थ**—उत्पद्यमानानां = उत्पन्न हुई । पृथक् भावम् = पृथक् सत्ता को । उदयास्तममयौ = उदय और तिरोभाव प्रलय) को । यत्वा = जानकर ॥

**अनुवाद**—पृथक् ( पृथक् भूतों से ) उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियों के जो विभिन्न भाव तथा उनकी उत्पत्ति और प्रलय को जानकर विवेकी व्यक्ति शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

**व्याख्या**—इन्द्रियाँ आकाशादि भूतों से उत्पन्न होती हैं । इसलिए वे अपने कारण के गुणों को विषय बनाती हैं । इन्द्रियों के पृथक् विषय ही उनके पृथक् भाव हैं । जाग्रद् अवस्था में इन्द्रियों की कार्यशीलता उनका उदय है और सुषुप्ति अवस्था में इनकी कार्य शक्ति का अभाव होना ही प्रलय है । जो इन्द्रियों के इस रहस्य को जानता है—अर्थात् यह जानता है कि इन्द्रियों की शक्ति शाश्वत नहीं है, न इनके भाव ही चिरन्तन हैं । इनका तो प्रतिदिन नाश होता रहता है, इन्द्रियों से भिन्न चेतन शक्ति है—वह व्यक्ति शोक नहीं करता है अर्थात् शोक से रहति होकर भोगों को अनासक्त भाव से भोगता रहता है और संसार-सागर को पार कर जाता है ।[1] ॥ ६ ॥

**इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।**
**सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥**

**शा० भा०**—यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधिगन्तव्यो यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य । तत्कथमित्युच्यते इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम् । पूर्ववदन्यत् । सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥ ७ ॥

**अन्वय**—इन्द्रियेभ्यः मनः परम् । मनसः सत्वम् उत्तमम् सत्त्वात् महान् आत्मा अधि महतः अव्यक्तम् उत्तमम् ॥ ७ ॥

**शब्दार्थ**—परम् = श्रेष्ठ । सत्त्वम् = व्यष्टि बुद्धि । महान् आत्मा = समष्टि बुद्धि : । अव्यक्त = अव्यक्त नामक शक्ति । महतः = समष्टि बुद्धि से ।

---

१. तरति शोकमात्मवित् छा० उ० ७।१।३

अनुवाद—( श्रोत्रादि ) इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से व्यष्टि बुद्धि श्रेष्ठ है और व्यष्टि से श्रेष्ठ समष्टि बुद्धि है और इससे श्रेष्ठ अव्यक्त[1] है। ( अथवा मन से श्रेष्ठ बुद्धि है। और बुद्धि से श्रेष्ठ उसका स्वामी जीवात्मा है और जीवात्मा से श्रेष्ठ अव्यक्त शक्ति है। क्योंकि इसी के वश में होकर जीवात्मा को सुख और दुःख की अनुभूति होती है )॥ ७ ॥

**अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।**
**यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥**

शा० भा०—अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात्। अलिङ्गो लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तदविद्यमानमस्येति सोऽयमलिङ्ग एव। सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत्। यं ज्ञात्वा आचार्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुः अविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात् पुरुष इति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ ८ ॥

अन्वय—तु अव्यक्तात् व्यापकः च अलिङ्गः एव पुरुषः परः यम् ज्ञात्वा जन्तुः मुच्यते च अमृतत्वम् गच्छति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—तु = किन्तु (अव्यक्त से विलक्षणता बताने के लिए)। अलिङ्गः = जो किसी को जानने का साधन न हो। जन्तु = जीवात्मा।

अनुवाद—अव्यक्त से भी व्यापक और अलिङ्ग पुरुष श्रेष्ठ है जिसे जानकर जन्तु मुक्त हो जाता है और वह अमरत्व को प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस अव्यक्त से भी श्रेष्ठ परम पुरुष परमात्मा है। यह व्यापक अर्थात् पूर्ण है तथा बुद्धि आदि के समान किसी वस्तु का लिङ्ग नहीं है। सुख-दुःखात्मक बुद्धि लिङ्ग के द्वारा अव्यक्त का अनुमान होता है। परमतत्व केवल चिन्मात्र है। इसलिए यह अलिङ्ग है क्योंकि संसार के सभी धर्मों[2] से रहित है। जो विवेकी आचार्य या शास्त्र के द्वारा उस परम पुरुष को जानता है वह अविद्यादि को नष्ट कर जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीरपात होने पर विदेह-मुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

---

१. इसकी व्याख्या कठो० १।३।१० में की गई है।

२. अलिङ्ग एव। सर्वसंसारवर्जित इति। शां० भा।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

शा० भा०—कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनम् उपपद्यत इत्युच्यते न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम् । अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण, चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्, पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिद् अप्येनं प्रकृतमात्मानम् । कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते । हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या । मनीषा मनसः सङ्कल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट् तथा हृदा मनीषाविकल्पयित्र्या मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत् । आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः । तम् आत्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

अन्वय—अस्य रूपं संदृशे न तिष्ठति, एनं कश्चन चक्षुषा न पश्यति मनसा अभिक्लृप्तः हृदा मनीषा ( दृश्यते ) ये एतत् विदुः ते अमृताः भवन्ति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—संदृशे=प्रत्यक्ष ज्ञान । अभिक्लृप्ता=यथार्थ दर्शन द्वारा । हृदा= हृदयस्थित । मनीषा = विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ।

अनुवाद—इस आत्मतत्व का ( वास्तविक ) रूप इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होता है, इसे नेत्र से भी कोई देख नहीं सकता है । यह तो मन के द्वारा बारम्बार ध्यान में लाया गया विशुद्ध हृदयस्थित बुद्धि के ( द्वारा ) देखा जा सकता है । जो इस ब्रह्म को जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—इस परमब्रह्म का साक्षात्कार नेत्रों के द्वारा[1] सम्भव नहीं है, किसी भी इन्द्रियों के द्वारा इसे नहीं जाना जा सकता है ।[2] आचार्य के उपदेश से जब मन अत्यन्त निर्मल हो जाता है तब हृदयस्थित संकल्पात्मक विशुद्ध मन में परब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है । उस समय साधक ब्रह्म का साक्षात्कार करता है । ब्रह्म का साक्षात्कार निदिध्यासनादि के द्वारा ही सम्भव है । इस ब्रह्म को जानकर साधक अमर अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं ॥ ९ ॥

परमपदप्राप्ति

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

---

१. न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः । गी० ९।८

२. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो ॥ केनो० ४०१।३

**शा० भा०**—सा हृन्मनीट् कथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्यो निवर्तितान्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानानि-ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते-अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि तेन संकल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन; बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

**अन्वय**—यदा मनसा सह पञ्च ज्ञानानि अवतिष्ठन्ते बुद्धिः च न विचेष्टति ताम् परमां गतिम् आहुः ॥ १० ॥

**शब्दार्थ**—ज्ञानानि = श्रोत्रादि इन्द्रियाँ। अवतिष्ठन्ते = भलीभाँति स्थिर हो जाती हैं। विचेष्टति = चेष्टा करती हैं।

**अनुवाद**—जिस समय पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन-सहित ( आत्मा में ) स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्था को ( योगीजन ) परम गति कहते हैं ॥ १० ॥

**व्याख्या**—ज्ञान का अर्थ इन्द्रियाँ हैं। योगाभ्यास करते-करते जब मन संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से उपरत हो जाती हैं, उस समय बुद्धि भी किसी प्रकार के व्यापार में रत नहीं रहती। स्वच्छ दर्पण के समान निर्मल हो जाती है। कहने का आशय यह है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार से उपरत हो जाती हैं उस समय केवल परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इसी अवस्था को योगीजन परमगति कहते हैं क्योंकि इसी गति ( साधन ) के द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार होता है और जन्म-जन्म के बन्धन टूट जाते हैं और साधक मुक्त हो जाता है ॥ १० ॥

**तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।**
**अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥**

**शा० भा०**—तामीदृशीं तदवस्थां योगम् इति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम्। सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः। एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याध्यारोपणवर्जितस्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा। स्थिराम् इन्द्रियधारणां स्थिरामचलाम् इन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः। अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते। न हि बुद्धयादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति। तस्मात्प्रागेव बुद्धयादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते। अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतः अभि-

धीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति। कुतः ? योगो हि यस्मात् प्रभवाप्ययौ उपजनापायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥११॥

अन्वय—तां स्थिराम् इन्द्रियधारणाम् योगम् इति मन्यन्ते हि तदा अप्रमत्तः भवति, योगः प्रभवाप्ययौ ॥११॥

शब्दार्थ—इन्द्रियधारणाम् = इन्द्रियों की धारणा को। अप्रमत्तः = प्रमादरहित। प्रभवाप्ययौ = उत्पत्ति और विनाश।

अनुवाद—उस स्थिर इन्द्रियधारण को ही योग कहते हैं। उस समय (पुरुष) प्रमाद रहित हो जाता है क्योंकि योग ही उत्पत्ति और विनाश है ॥११॥

व्याख्या—जिस समय इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने-अपने व्यापारों से विरत हो जाती हैं वह अवस्था योगी की स्थिर[1] (स्थितधी की) अवस्था कहलाती है क्योंकि इस अवस्था में लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद आदि विघ्नों का इन्द्रिय-धारण पर प्रभाव नहीं पड़ता है। इस अवस्था में योगी की इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से उपरत हो जाती हैं। इस इन्द्रिय-धारण की अवस्था में आत्मतत्व अविद्यादि से रहित होकर स्वरूपावस्था में हो जाता है। इसी अवस्था को योगी योग की अवस्था कहते हैं क्योंकि ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि की धारणा हो जाने से चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता[2] है। ऐसी स्थिति में साधक प्रमाद विरहित हो जाता है क्योंकि बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि के व्यापार निवृत्त हो जाते हैं। जब इन्द्रियों आदि की चेष्टाएँ होंगी ही नहीं तो प्रमाद होने की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। लेकिन यह योग उत्पत्ति और नाश स्वभाववाला है। अर्थात् एक बार योग की प्राप्ति होने पर उसका पुनः नाश सम्भव है अतः साधक को निरन्तर योग की ओर प्रवृत्त रहना चाहिए ताकि प्रमाद न हो सके ॥११॥

## आत्मोपलब्धि का साधन सद्बुद्धि ही है

**नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।**
**अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥**

शा० भा०—बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद् ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्यत बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावाद् अनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म। यद्धि

---

१. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ गी० २।५५

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः यो० सू० १।२।

करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरीतं चासद् इत्यतश्चानर्थको योगः। अनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते- सत्यम्, नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तं शक्यत इत्यर्थः। तथापि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलम् इत्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्रविलापनस्य अस्तित्वनिष्ठत्वात्। तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति। यदापि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदापि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते। बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे। मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं गृह्येत। न त्वेतदस्ति सत्सदित्येव तु गृह्यते; यथा मृदादिकार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम्। तस्माज्जगतो मूलमात्मास्तीत्येवोपलब्धव्यः। कस्मात्? अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानादन्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रविलीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते न कथञ्चनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्वय—न वाचा न मनसा न चक्षुषा एव प्राप्तुम् शक्यः, तत् अस्ति, इति ब्रुवतः अन्यत्र कथम् उपलभ्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—वाचा = वाणी से। ब्रुवतः = कहनेवाले के। अन्यत्र = दूसरे को। उपलभ्यते = मिल सकता है।

अनुवाद—( वह आत्मतत्व ) न वाणी से न मन से और न नेत्र से ही प्राप्त किया जा सकता है। "वह है" ऐसा कहनेवालों के अतिरिक्त दूसरे को ( वह आत्मतत्व ) कैसे उपलब्ध हो सकता है ?

व्याख्या—वह आत्मतत्व न वाणी का विषय है न मन का। अर्थात् परमित शक्तिवाली वाणी ब्रह्म का वर्णन नहीं कर सकती है। संकल्प-विकल्प स्वरूपवाला वह मन से भी नहीं जाना जा सकता है क्योंकि मन जड़ है और ब्रह्म चेतन। चेतन के प्रकाश से ही मन आदि प्रकाशित होते हैं। चक्षु से तो उसका दर्शन सम्भव नहीं है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होने के कारण उसकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं का प्रत्यक्ष इन्द्रियाँ नहीं कर सकती हैं। जो साधक उसके 'अस्तित्व' को मानकर योग के द्वारा उसको देखने का प्रयास

करता, उसे ही उसका प्रकाश दिखलाई पड़ता है। जो साधक उसके अस्तित्व को नहीं मानते हैं, वे लोग उसका साक्षात्कार कैसे कर सकेंगे क्योंकि उन लोगों की इन्द्रियाँ तो बाह्य विषयों में आसक्त रहती हैं। उस ब्रह्म के अस्तित्व में कार्य की सत्ता ही प्रमाण है। जगत् कार्य है। इसका कोई न कोई चेतन कारण होगा क्योंकि संसार में देखा जाता है कि गृहादि की सत्ता चेतन पर आधारित है। इसी प्रकार चेतन तत्व के द्वारा ही जगत् की सर्जना हुई है।

इसलिये उस परमतत्व के अस्तित्व को स्वीकार कर योग के द्वारा ही उसका साक्षात्कार सम्भव है। नास्तिक को उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता है। इसलिए उसके अस्तित्व को स्वीकार कर उसे जानने का प्रयास करना चाहिए॥ १२॥

**अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।**
**अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥ १३॥**

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षम् आसुरम्–अस्तीत्येवात्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्धयाद्युपाधिः। यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्यतिरेकेण नास्ति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६।१।४) इति श्रुतेस्तदा यस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्यात्मनः तत्त्वभावो भवति तेन च रूपेण आत्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्तते। तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः—निर्धारणार्था षष्ठी–पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्यात्मनः सत्कार्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्य इत्यर्थः पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावः "नेति नेति" (बृ० उ० २। ३।६; ३।९।२६) इति "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृ० उ० ३।८।८) "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने" (तै० उ० २।७।१) इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदत्यभिमुखीभवति आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत्॥ १३॥

अन्वय—'अस्ति' इति एव उपलब्धव्यः (तत्पश्चात्) तत्त्वभावेन उभयोः अस्ति इति एव उपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥१३॥

शब्दार्थ—अस्ति = (परमेश्वर की) सत्ता है। इति एव = ऐसा निश्चय करके। उपलब्धव्यः = ग्रहण करना चाहिए। तत्त्वभावेन = उपाधि-रहित शुद्ध

रूप से। उभयोः = दोनों ( अर्थात् अस्ति रूप और तत्त्व भाव ) प्रकार से। उपलब्धस्य = ( परमेश्वर निखिल जगत का कारण है, इस तथ्य को ) जानने-वाले को। प्रसीदति = प्रत्यक्ष होता है।

**अनुवाद**--"यह आत्मतत्त्व है" इस प्रकार का निश्चय कर ( इसे ) प्राप्त करना चाहिए तथा इसे तत्त्वभाव से जानना चाहिए। दोनों प्रकार की उपलब्धियों में से जिसे "आत्मतत्त्व है" की उपलब्धि हो गई है, उसके समक्ष आत्मतत्त्व अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है ॥१३॥

**व्याख्या**—साधक को सर्वप्रथम 'आत्मा के अस्तित्व' को जानना चाहिए। अर्थात् उसे यह जानना चाहिए कि जगत् का कारण बुद्धि आदि उपाधि से उपहित चैतन्य है। इस जगत् का कारण परमतत्त्व परमात्मा है, वही सत् है ज़गत तो केवल वाणी का विलास है[१]। 'अस्तित्व' को स्वीकार लेने के पश्चात् उसे तत्त्व-भाव अर्थात् उपाधिरहित विशुद्ध ब्रह्म को जानना चाहिए। उसे यह जानना चाहिए कि आत्मतत्त्व निष्क्रिय अलिङ्ग व्यापक है इन दोनों प्रकार के ज्ञान में जो उस आत्मतत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार कर उसे जानने के लिए योगाभ्यास करता है, उसके लिए आत्मतत्त्व अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है अर्थात् आत्मतत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। अतः उस आत्मतत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार कर उसे जानने का प्रयास करना चाहिए ॥१३॥

### अमर कब होता है ?

**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।**
**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥**

**शा० भा०**—एवं परमार्थदर्शिनोः—यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्यान्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते येऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषा हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः। बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो नात्मा। "कामः संकल्पः" ( बृ० उ० १।५।३ ) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च। अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधात् आसीत्स प्रबोधोत्तरकालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति। गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्तेरत्रेहैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥१४॥

**अन्वय**—अस्य हृदि श्रिताः ये कामाः सर्वे यदा प्रमुच्यन्ते, अथ मर्त्यः अमृतः भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

---

१. वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्। छा० उ० ६।१।४

शब्दार्थ—हृदि श्रिताः = हृदय में स्थित । प्रमुच्यन्ते = समूल नष्ट हो जाते हैं । अत्र = इसी शरीर में ।

अनुवाद—साधक के हृदय में आश्रित जो कामनाएँ हैं, सब की सब जब समूल नष्ट हो जाती हैं तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और इसी शरीर में ब्रह्म का सम्यक् अनुभव कर लेता है ॥१४॥

व्याख्या—मनुष्य जब तक कामनाओं—धन, वनिता, पुत्रादि के जाल में फँसा रहता है तब तक उसे परम तत्त्व के चिन्तन का अवसर ही नहीं मिलता । इसलिए परमात्म तत्त्व को जानने के लिए हृदय की लौकिक और पारलौकिक सभी कामनाओं का परित्याग कर देना चाहिए । कामनाओं को पूर्ण करनेवाला कभी भी शान्ति नहीं प्राप्त करता[1] है । जो सम्पूर्ण कामनाओं का परित्याग कर देता है वही शांति प्राप्त करता है ।[2] इसलिए सर्वप्रथम कामरूप शत्रु का नाश करना[3] चाहिए । कामनाओं के नष्ट हो जाने पर मरणधर्मा मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है और इसी शरीर में वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता[4] है, उसे पुनः शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है ॥ १४ ॥

**यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।**
**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥**

**शा० भा०**—कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते—यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदम् उपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः । अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहम् इत्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद् ब्रह्मैवाहमस्मि असंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतावन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः ॥ १५ ॥

---

१. "स शान्तिमाप्नोति न कामकामी" गी० २।७०
२. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ गी० २।७१
३. जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ गी० ३।४३
४. "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।" बृ० उ० ४।४।६

अन्वय—यदा हृदयस्य सर्वे ग्रन्थयः प्रभिद्यन्ते, अथ मर्त्यः इह अमृतः भवति, हि एतावत् अनुशासनम् ॥

अनुवाद—जिस समय ( साधक के जोवन में ही उसके ) हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं उस समय वह मरणधर्मा अमर हो जाता है। इतना ही सनातन उपदेश है ॥ १५ ॥

व्याख्या—पञ्च पर्ववाली अविद्या ही मनुष्य के हृदय कीं ग्रन्थियाँ हैं। अविद्या के वर्तमान रहने के कारण मनुष्य सदा शरीर, धन, वनितादि सांसारिक और पारलौकिक कामनाओं के दल-दल में फँसा रहता है। जब ज्ञान हो जाता है, तब सम्पूर्ण कामनाएँ नष्ट हो जातो हैं, और ग्रन्थियाँ समूल नष्ट हो जाती हैं अथवा दग्धबीज की भाँति हो जाती हैं। उसके पश्चात् मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है अर्थात् उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता है। नचिकेता को समझाते हुए यमराज कह रहे हैं कि यहीं वेदान्त का सनातन उपदेश है। इस उपदेश का पालन करना चाहिए ॥१५॥

**शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-**
**स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।**
**तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति**
**विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥**

शा० भा०—निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यत इत्युक्तमत्र ब्रह्म समश्नुत इत्युक्तत्वात्। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" ( बृ० उ० ४ । ४ । ६ ) इति श्रुत्यन्तराच्च। ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये च तद्विपरीताः संसारभाजः तेषामेव गतिविशेष उच्यते—प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये। किं चान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रत्युक्ता च। तस्याश्च फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः। तत्र शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्विनिःसृता नाड्यः शिरास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाभिनिःसृता निर्गता सुषुम्ना नाम। तयान्तकाले हृदय आत्मानं वशीकृत्य योजयेत्। तया नाड्योर्ध्वमुपर्यायन् गच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वममरणधर्मत्वमापेक्षिकम्। "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" ( वि० पु० २ । ८ । ९७ ) इति स्मृतेः। ब्रह्मणा

वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोक-गतान्। विष्वङ्नानाविधगतयः अन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप्रतिपत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वय—हृदयस्य शतम् एका च नाड्यः तासाम् एका मूर्धानम् अभिनिःसृता, तया ऊर्ध्वम् आयन् अमृतत्वम् एति अन्याः उत्क्रमणे विष्वङ् भवन्ति ॥१६॥

शब्दार्थ—शतम् च एका च = एक सौ एक नाड़ियाँ। मूर्धानम् = मूर्धा (कपाल) की ओर। अभिनिःसृता = निकली हुई हैं। आयन् = जाता हुआ। उत्क्रमणे = मरण-काल में। विष्वङ् = अनेक प्रकार की गति (योनियाँ) वाली।

अनुवाद—(मनुष्य के) हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें एक (सुषुम्ना नामक नाड़ी) मूर्धा (कपाल) का भेदन करके (बाहर की ओर) निकली हुई हैं। उस (सुषुम्ना नाड़ी) के द्वारा ऊपर की ओर गमन करनेवाला पुरुष अमरत्व को प्राप्त करता है। शेष (एक सौ नाड़ियाँ) मरणकाल में (जीव) नाना प्रकार की योनियों में ले जाने का कारण होती हैं ॥१६॥

व्याख्या—पुरुष के हृदय से एक सौ एक नाड़ियाँ निकली हुई हैं इनमें एक नाड़ी सुषुम्ना है जो मस्तक का भेदन करके बाहर निकल कर सूर्यमण्डल द्वारा ब्रह्मलोक तक फैली हुई है। वस्तुतः इसी सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा साधक, भूः आदि लोकों से ऊपर स्थित ब्रह्मलोक को जाते हुए अमरत्व को प्राप्त करता है। यह अमरत्व पद सम्पूर्ण भूतों के क्षय-पर्यन्त रहनेवाला है। अथवा साधक कालान्तर में ब्रह्मा के साथ ब्रह्मलोक के अनुपम भोगों को भोगकर मुख्य अमरता को प्राप्त करता है अर्थात् परमानन्द स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जो साधक योगाभ्यास से अपने प्राण को सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कराने में समर्थ हैं वे परम पद को प्राप्त करते हैं। अन्य सौ नाड़ियाँ नाना योनियों को प्राप्त कराती हैं। कहने का आशय यह है कि मरण-काल में जीव शेष सौ नाड़ियों के द्वारा अपनी वासनाओं के अनुरूप[3] विभिन्न योनियों को प्राप्त करते रहते हैं ॥१६॥

---

१. मूर्धानं भित्वाभिनिःसृता निर्गता सुषम्ना नाम ॥ शां० भा०

२. "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" वि० पु० २ ८।९७

३. यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ गी० ८।६

## उपसंहार

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥

शा० भा०—इदानीं सर्ववल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह–अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृदये संनिविष्टो यथाव्याख्यातः तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेत् उद्यच्छेन्निष्कर्षेत्पृथक्कुर्यादित्यर्थः । किमिवेत्युच्यते मुञ्जादिव इषीकामन्तःस्थां धैर्येणाप्रमादेन । तं शरीरान्निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमितिशब्दश्च ॥ १७ ॥

अन्वय—अन्तरात्मा अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः सदा जनानाम् हृदये सन्निविष्टः, तम् मुञ्जात् इषीकाम् इव स्वात् शरीरात् धैर्येण प्रवृहेत् तम् शुक्रम् अमृतम् विद्यात् तम् शुद्धम् अमृतम् विद्यात् ॥

शब्दार्थ—सन्निविष्टः = भलीभाँति प्रविष्ट है । मुञ्जात् = मूँज से । इषीकाम् = सींक । प्रवृहेत् = पृथक् करके देखे । शुक्रम् = विशुद्ध । विद्यात् = समझे ॥

अनुवाद—सबका अन्तर्यामी अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला परम पुरुष सदा मनुष्यों के हृदय में स्थित है, मूँज से सींक की भाँति उसे धैर्यपूर्वक अपने शरीर से पृथक करे उसे शुद्ध और अमृत रूप में समझे, उसे शुद्ध और अमृत रूप में समझे ॥१७॥

व्याख्या—अन्तर्यामी परब्रह्म सभी जीव के हृदय के अनुरूप ही उसके हृदय में अङ्गुष्ठमात्र परिणाम के रूप में रहते हैं । जिस प्रकार मूँज में रहनेवाली सींक मूँज से पृथक् और सूक्ष्म होती है, उसी प्रकार सूक्ष्म आत्मा शरीर से पृथक् है । जिनका चित्त विषय-वासनाओं से विरत है, वही व्यक्ति धैर्यवान् है । वे ही योगाभ्यास के द्वारा शरीर से पृथक् आत्मतत्व का साक्षात्कार करते हैं, अन्य नहीं । यह आत्मतत्व त्रिगुणादि धर्मों से रहित विशुद्ध और अविनाशी हैं । सिद्धान्त के निश्चय को अभिव्यक्त करने के लिए वाक्य की पुनरावृत्ति की गई है ॥१७॥